कलाका विवेचन

सम्पादक—

पं० मोहनलाल महतो "वियोगी"

प्रकाशक—

श्रीपति नारायण शरण शर्मा.

व्यवस्थापक—

"साहित्य निकुञ्ज" अतरसन.

पो० बगवरा (सारन)

प्रथम संस्करण] गुरु पूर्णिमा १९९३ वि०

कलाका विवेचन

कला

उत्पत्ति और विकास--मनुष्य चेतना-सम्पन्न प्राणी है। वह अपने चतुर्दिक की सृष्टिका अनुभव प्राप्त करता है। वह उसे देखता-सुनता है और उसकी छाप उस पर पड़ती है, वासना-रूपसे उसमें भिन्न-भिन्न वस्तुओं के छाया-चित्र अङ्कित होते रहते हैं और तदनुकूल ही उसके संस्कार बनते रहते हैं। मानव सभ्यता का जैसे-जैसे विकास होता जाता है, वैसे ही वैसे यह सृष्टि-प्रसार मनुष्य को अधिकाधिक व्यापकरूप में प्रभावित करता है। आदि काल में मनुष्य की आवश्यकतायें थोड़ी थीं और उसका अनुभव भी साधारण था। वह अपने आस-पास जंगल झाड़ पशु पक्षी आदि को ही देखता था और इने-गिने पदार्थों से ही अपना काम चलाता था। उसका क्रियाकलाप एक सीमित क्षेत्र में ही होता था। इसीलिए उसके अनुभवों की संख्या थोड़ी और उनका विस्तार भी संकुचित था। सभ्यता के विकास के साथ मनुष्य की आवश्यकतायें बढ़ीं और क्रमशः अधिक जीव जगत् उसके सम्पर्क और साक्षात्कार में आने लगा। इस सम्पर्क और साक्षात्कार के विस्तार के साथ मनुष्य के अनुभवों की भी वृद्धि

भिन्न-भिन्न प्रभावों को अभिव्यक्त करने की शक्ति का भी उन्मेष होने लगा। यह शक्ति मनुष्य-मात्र के अस्तित्व के साथ लगी हुई है। मनुष्य के शारीरिक और मानसिक संघटन के मूल में ही इस शक्ति का समावेश है। उसकी अंतरात्मा अपने चारों ओर की सृष्टि को जिस रूप में ग्रहण करती है उसे उसी रूप में वह व्यक्त भी करना चाहती है। बाह्य सृष्टि मनुष्य पर सुख-दुःख, सुरूप कुरूप, हित-अहित आदि की जो भावनायें उत्पन्न करती है उनको अभिव्यंजित करना मनुष्य के लिये अनिवार्य-सा ही है। मानव-मस्तिष्क का निर्माण ही कुछ इसी प्रकार हुआ है। जैसे चंचल समीर जल राशि पर स्वतः अपना चित्र अंकित कर देता है अथवा जैसे सूर्य की किरणें शिलाखंडों पर आप ही अपना [illegible] अंकित करती हैं, वैसे ही मनुष्य के मस्तिष्क में सम्पूर्ण जीव-जगत् का चित्र आपसे आप अंकित हो जाता है। मस्तिष्क में ये चित्र अदृश्य रूप में अंकित रहते हैं, पर मनुष्य की अंतरात्मा की यह स्वभावसिद्ध प्रेरणा होती है कि वह इन चित्रों को इन्द्रियगोचर रूप में चित्रित करे। आरम्भ में साधनों के अभाव के कारण मनुष्य [illegible] अथवा अन्य [illegible] साधनों से इन चित्रों को अंकित करने की चेष्टा करता [illegible] । इस प्रयत्न से ही [illegible] और साधना [illegible] [illegible] रूप से [illegible] नहीं होते थे [illegible] इनके [illegible] करना [illegible] एकता का [illegible] [illegible] भिन्न शक्तियाँ [illegible] [illegible] ।

कलाका विवेचन

कला

उत्पत्ति और विकास—मनुष्य चेतना-सम्पन्न प्राणी है। वह अपने चतुर्दिक की सृष्टिका अनुभव प्राप्त करता है। वह उसे देखता-सुनता है और उसकी छाप उस पर पड़ती है, वासना-रूपसे उसमें भिन्न-भिन्न वस्तुओं के छाया-चित्र अङ्कित होते रहते हैं और तदनुकूल ही उसके संस्कार बनते रहते हैं। मानव सभ्यता का जैसे-जैसे विकास होता जाता है, वैसे ही वैसे यह सृष्टि-प्रसार मनुष्य को अधिकाधिक व्यापकरूप में प्रभावित करता है। आदि काल में मनुष्य की आवश्यकतायें थोड़ी थीं और उसका अनुभव भी साधारण था। वह अपने आस-पास जंगल झाड़ पशु पक्षी आदि को ही देखता था और इने-गिने पदार्थों से ही अपना काम चलाता था। उसका क्रियाकलाप एक सीमित क्षेत्र में ही होता था। इसीलिए उसके अनुभवों की संख्या थोड़ी और उनका विस्तार भी संकुचित था। सभ्यता के विकास के साथ मनुष्य की आवश्यकतायें बढ़ीं और क्रमशः अधिक जीव जगत् उसके सम्पर्क और साक्षात्कार में आने लगा। इस सम्पर्क और साक्षात्कार के विस्तार के साथ मनुष्य के अनुभवों की भी वृद्धि

यद्यपि यह भी मनुष्यकी अभिव्यंजना-शक्तिका एक अंग है।
तर्क शास्त्रकी विविध प्रणालियाँ और प्रक्रियायें भी कलाकी श्रेणी
में नहीं आ सकतीं। कलाका सम्बन्ध नियमोंसे नहीं है। वह तो
भावनाओंकी अभिव्यक्ति-मात्र है। बाह्य जगत्की भिन्न वस्तुओं
का—एक एक वस्तु का—जैसा प्रतिबिम्ब मानस-मुकुर पर पड़ता
है, कलाका सीधा सम्बन्ध उसीसे है। वह सदैव व्यष्टिसे संप-
र्कित रहती है। नियम-निर्माण और सिद्धान्त समुच्चय उसकी
विस्तार-सीमासे बाहर हैं। इतिहासका क्षेत्र भी कलाका ही क्षेत्र
है; क्योंकि उसमें नियम निरूपण नहीं किया जाता, व्यक्तियोंका
चरित्र चित्रण ही किया जाता है। परन्तु इतिहासमें केवल स्थूल
और घटित घटनाओं तथा वास्तविक व्यक्तियोंका ही चरित्र-
चित्रण किया जाता है। ऐतिहासिक चरित्र चित्रणमें यद्यपि
कल्पनाका पुट कुछ मात्रामें रहता है, पर कलाओंकी भांति इति-
हासमें कल्पनाकी अबाध गति नहीं पाई जाती। इस प्रकार कलाकी
व्यापकता इतिहासकी अपेक्षा बहुत अधिक है। कलाओंके भीतर
सृष्टिके समस्त वास्तविक और काल्पनिक क्रिया कलापकी व्यंजनाकी
जा सकती है। मनुष्यकी अनुभूतियों कल्पनाओं और उसके
सम्पूर्ण ज्ञानका एक बृहत् अंश कलाका विषय बन सकता है। भिन्न
वैज्ञानिक अनुसन्धानों दार्शनिक तथ्यों और तार्किक सरणियोंके
सांगोपांग वर्णन भी कलाके ही घेरेमें आते हैं। न्यायशास्त्रके नियम
कला नहीं कहे जा सकते पर वे इस प्रकार सजाकर उपस्थित
किये जा सकते हैं कि उनमें कला देख पड़े। सारांश यह कि मनुष्य

हुई और उसकी चेतना आधिभौतिक [illegible] तथा परिमार्जित हो
गई । धीरे धीरे उसमें ग्लानि, [illegible], [illegible] आदि भावों
आविर्भाव हुआ और [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]
प्रसार प्राप्त हुआ । प्रारंभ में जो मनुष्य अपने आस पास के [illegible]
से ही परिचित था और उसकी इच्छा शक्ति भी [illegible] तक सीमित
थी, आगे चलकर वह रहस्य तथा अद्भुत वस्तुओं की भी [illegible]
करने लगा । उसकी इच्छाओं और अभिलाषाओं का क्षेत्र भी
बढ़ा । साथ ही उसमें सुन्दर-असुन्दर, सत असत और उचित
अनुचित की धारणा भी बद्धमूल हुई । आरंभ में ये धारणायें भी
बहुत कुछ अविकसित अवस्था में रही होंगी । आवश्यकता और
उपयोगिता के अनुसार मनुष्य के प्रयोगक्षेत्र में जो जो वस्तु
आई होंगी, उन पर उसने भले बुरे भाव का आरोप किया होगा
परन्तु समय पाकर उसके संस्कार दृढ होते गये, उसकी चेतना का
विकास होता गया और उसकी बोध वृत्ति भी क्रम क्रम से सुव्य
वस्थित और पुष्ट होती गई । आगे चलकर तो ये ही संस्कार औ
वृत्तियां इतनी विकसित हुईं और मनुष्य समाज से इनका इतना
घनिष्ट सबन्ध स्थापित हुआ कि ये ही मनुष्य की सभ्यता के
मापदंड मानी जाने लगीं । जिस व्यक्ति की अथवा जिस समाज
की ये वृत्तियां जितनी अधिक व्यापक और समन्वय पूर्ण है, वह
व्यक्ति अथवा वह समाज उतना ही सभ्य समझा जाता है ।

जिस क्षण से चैतन्य मनुष्य पर बाह्य सृष्टि की विवि
वस्तुओं की छाप पडने लगी, लगभग उसी क्षण से उसमें उस

प्रसिद्ध कला-शास्त्रीका मत है कि मनुष्यकी भावना शक्तिको इच्छा-शक्तिका परवर्ती मानना उचित नहीं। कलाका सम्बन्ध मनुष्यकी भावनासे ही है, इच्छासे नहीं, कलाके मूलमें यद्यपि भावनाका ही अस्तित्व स्वीकार किया जा सकता है, पर सभ्यताके विकासके साथ ज्यों-ज्यों मनुष्यकी परिस्थितियाँ जटिल होती गईं और उसमें समाजके हित-अहितका ध्यान बढ़ता गया, त्यों त्यों उसकी इच्छा शक्ति दृढ़ होती गई और वह उसके मानसिक संघटनका एक ठोस अंग बन गई। कालान्तरमें मनुष्यकी इच्छा-शक्ति उसकी भावनाओं पर नियंत्रण करने लगी और अब तो मनुष्यका ज्ञान और उसकी इच्छायें उसकी सम्पूर्ण भावनाओंसे एकाकारमें मिली देख पड़ती हैं। मनुष्यकी ज्ञानशक्ति उसकी भावनाओंको चैतन्य बनाती और उसकी इच्छा-शक्ति उन भावनाओंको शृंखलित और संयमित रखती है। इस प्रकार इन तीनोंके संयोगसे कलाओं-द्वारा मानवहितका सम्पादन होता है और उनमें सदाचारकी प्रतिष्ठा होती है। यदि भावना-शक्तिके साथ ज्ञान-शक्तिका समन्वय न होता तो कलायें अपने आदि रूपमें विकसित होकर वर्तमान उन्नति न प्राप्त करतीं और यदि भावना शक्तिके साथ इच्छा शक्तिका समन्वय न होता तो कलाकारों [illegible] रोकना असम्भव हो जाता। अपनी प्रारम्भिक अवस्थामें मनुष्यकी इच्छा शक्तिके साथ लोकहितका सम्बन्ध चाहे न भी रहा हो, पर समाजकी सभ्यताकी वृद्धि होने पर तो उनकी इच्छायें लोकमंगलकी ओर अवश्य उन्मुख हुई। प्रारम्भमें सम्भव है आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदि ही

भिन्न-भिन्न प्रभावों को अभिव्यक्त करने की शक्ति का भी उन्मेष होने लगा। यह शक्ति मनुष्य-मात्र के अस्तित्व के साथ लगी हुई है। मनुष्य के शारीरिक और मानसिक संघटन के मूल में ही इस शक्ति का समावेश है। उसकी अंतरात्मा अपने चारों ओर की सृष्टि को जिस रूप में ग्रहण करती है उसे उसी रूप में वह व्यक्त भी करना चाहती है। बाह्य सृष्टि मनुष्य पर सुख-दुःख, सुरूप कुरूप, हित-अहित आदि की जो भावनायें उत्पन्न करती है उनको अभिव्यंजित करना मनुष्य के लिये अनिवार्य-सा ही है। मानव-मस्तिष्क का निर्माण ही कुछ इसी प्रकार हुआ है। जैसे चंचल समीर जल राशि पर स्वतः अपना चित्र अंकित कर देता है अथवा जैसे सूर्य की किरणें शिलाखंडों पर आप ही अपना [illegible] अंकित करती हैं, वैसे ही मनुष्य के मस्तिष्क में सम्पूर्ण जीव-जगत् का चित्र आपसे आप अंकित हो जाता है। मस्तिष्क में ये चित्र अदृश्य रूप में अंकित रहते हैं, पर मनुष्य की अंतरात्मा की यह स्वभावसिद्ध प्रेरणा होती है कि वह उन चित्रों को इन्द्रियगोचर रूप में चित्रित करे। आरम्भ में मार्दव के अभाव के कारण मनुष्य [illegible] अथवा अन्य [illegible] साधनों से इन चित्रों को अंकित करने की चेष्टा करता [illegible] में ही उसे [illegible] और साधना [illegible] रूप से [illegible] नहीं [illegible] [illegible] भिन्न [illegible]

व्यक्त करनेमें समर्थ हो तो उस अभिव्यक्तिसे दर्शक, श्रोता अथवा पाठक-समाजको भी उतनी ही तृप्ति हो सकती है। मनुष्य-मनुष्यके हृदय-साम्यका यही रहस्य है कि कलाकारकी अन्तरात्माका सच्चा भाव उसकी कलावस्तुमें निहित होकर अधिकाधिक मानव-समाजको रसान्वित करनेमें समर्थ होता है। परन्तु जब कभी कलाकारका जीवन अथवा जगत्-सम्बन्धी अनुभव सच्चा नहीं होता तब वह उन्हें उचित रीतिसे व्यक्त करनेमें कृतकार्य नहीं होता और मानव-समाज उसकी कृतिसे तृप्ति नहीं प्राप्त करता। यही कलाकारकी असफलता है। यद्यपि कला प्रकृतिकी अभिव्यंजना ही कही जाती है, तथापि कुछ विद्वान प्रकृतिसे प्राप्त आनन्दको काव्यानन्दसे भिन्न मानते हैं। भारतीय रसशास्त्री जब काव्यके अलौकिक आनन्दका व्याख्यान करता है तब वह प्राकृतिक जगत्को काव्य-जगत्से भिन्न ठहरानेका प्रयत्न करता है। जब यह कहा जाता है कि काव्यानन्द तो ब्रह्मानन्द सहोदर है तब यह नहीं कहा जाता कि प्रकृतिका आनन्द भी ब्रह्मानन्द-सहोदर है। इस सम्प्रदायके अनुयायी रसों को नव श्रेणियोंमें बाँटते हैं और बीभत्सरसके वर्णनको भी अलौकिकानन्द विधायिनी बतलाते हैं। परन्तु वे यह नहीं स्वीकार करते कि कूड़ा कर्कटके किसी सड़े गले बीभत्स रूपको देखकर भी वैसे ही आनन्दकी उपलब्धि होती है। ऐसा तो बहुत लोगोंको कहते सुना जाता है कि उन्हें प्राकृतिक वस्तुओंको देखकर वह प्रसन्नता नहीं होती जो काव्यमें उनका वर्णन पढ़कर होती है। इसलिए इटालियन विद्वान् क्रोचे यह मानते हैं कि कला अनुभूति

शक्तियों को 'कला' संज्ञा दी गई है। वर्तमान समय में मनुष्य की अभिव्यंजना-शक्ति इतनी अधिक विकसित हो गई है कि वह अपने मस्तिष्क-पट पर बाह्य सृष्टि के जिन छायाचित्रों को ग्रहण करता है उन्हे अनायास ही व्यक्त करने में समर्थ होता है। अब तो यहाँ तक कहा जाता है कि भिन्न भिन्न प्रभाव-चित्रों के ग्रहण और उनके अभिव्यंजन करनेमें कोई विषय-भेद नहीं है—वे तो एक ही क्रियाचक्र के अंग हैं और अभिन्न रूप से एक दूसरे से सम्बन्धित रहते हैं।

कला और अभिव्यञ्जना—यद्यपि अभिव्यंजनाको ही 'कला' का नाम दिया गया है, तथापि सम्पूर्ण अभिव्यंजना 'कला' नहीं है। यह मनुष्यको शक्तिके अंतर्गत है कि वह केवल भिन्न भिन्न प्रकृति चित्रों को ग्रहण कर उनका उद्घाटन ही न करे, वरन् उनके सम्बंध में अपना मत, सिद्धान्त अथवा नियम भी प्रकट करे। मनुष्य की बुद्धि में यह शक्ति होती है कि वह केवल वस्तुओं का चित्रांकण ही नहीं करती, प्रत्युत उनकी मीमांसा, उनका श्रेणी-विभाग और नियम-निर्धारण आदि भी करती है। मनुष्य केवल कलाकार ही नहीं होता, वह दार्शनिक भी होता है, वह अपने सूक्ष्म दर्शन से सृष्टिचक्र के सम्बन्ध में अनेक प्रकार से विवेचन, विश्लेषण और श्रेणी विभाग करता है, वह सूत्र-रूपमे अनेक प्रकार के सिद्धान्त व्यक्त करता है, जो उपदेश के रूप में ज्ञान की सामग्री बन जाते हैं। इस प्रकार भिन्न-भिन्न वैज्ञानिक तथ्योंका निरूपण होता है और दर्शन-शास्त्रकी प्रतिष्ठा होती है। इस प्रकारका दार्शनिक सिद्धान्त-समुच्चय और वैज्ञानिक तथ्य 'कला' नहीं है,

अंकित करनेमें समर्थ होता है और वही दूसरी बार किसी शृङ्गार-मूर्तिमती रमणीका चित्र भी चित्रित करनेमें सफल होता है तो यह कल्पना की जा सकती है कि कलाकार की व्यापक भावना योद्धा और रमणी दोनोंसे ही समानरूपमें सहानुभूति रखती है जैसा कि उसकी कलाकी अभिव्यञ्जनासे प्रकट होता है। यदि महाकवि शेक्सपियर एक डाकूका वर्णन भी उतनी ही कुशलतासे करते हैं जितनी कुशलतासे एक साधु पुरुषका तो यह उनके विस्तृत अनुभवकी ही सूचना है। जीवन-सम्बन्धी अनुभव ही काव्य तथा कलाओंमें भी व्यक्त होते हैं। प्रकृति और कलाओंमें विभेद है तो इतना ही है कि प्रकृति साधारण जनोंके लिए बिखरी हुई अव्यवस्थित और विशृंखल भी है, परन्तु कलामें उसे संयम, मर्यादा तथा शृंखला मिलती है। प्रकृतिकी अनुभूति कोई एकान्त अनुभूति नहीं होती, परन्तु कलाकी अनुभूति एकान्त होती है। उसमें एक प्रकारकी पूर्णता होती है जो साधारण आदमीको प्रकृतिमें नहीं देख पड़ता। कलाकार तो प्रकृतिमें उस सम्पूर्ण नियम, शृंखला, सुविन्यास पूर्णता आदिके दर्शन करता है जो उसकी कलावस्तुके द्वारा श्रोता अथवा पाठक उस कलावस्तुमें करते हैं—यदि कलाकारने प्राकृतिक दृश्योंको देखकर उन समस्त भावनाओंका उद्गम न हुआ होता तो उसकी कलावस्तुमें वह [illegible] न हो सकती और न उसके दर्शन सुननेवाले उसमें उन भावनाओंका आनन्द पा सकते। कहना यह कि सत्य और कलाओंका सम्बन्ध इस अनन्तसे भिन्न नहीं है जो साहित्यकार अथवा कलाकारके हृदयमें प्राकृतिक वस्तुओंके

यद्यपि यह भी मनुष्यकी अभिव्यंजना-शक्तिका एक अंग है। तर्कशास्त्रकी विविध प्रणालियाँ और प्रक्रियायें भी कलाकी श्रेणी में नहीं आ सकतीं। कलाका सम्बन्ध नियमोंसे नहीं है। वह तो भावनाओंकी अभिव्यक्ति-मात्र है। बाह्य जगत्की भिन्न वस्तुओं का—एक एक वस्तु का—जैसा प्रतिविम्ब मानस-मुकुर पर पड़ता है, कलाका सीधा सम्बन्ध उसीसे है। वह सदैव व्यष्टिसे संपर्कित रहती है। नियम-निर्माण और सिद्धान्त समुच्चय उसकी विस्तार-सीमासे बाहर हैं। इतिहासका क्षेत्र भी कलाका ही क्षेत्र है: क्योंकि उसमें नियम निरूपण नहीं किया जाता, व्यक्तियोंका चरित्र चित्रण ही किया जाता है। परन्तु इतिहासमें केवल स्थूल और घटित घटनाओं तथा वास्तविक व्यक्तियोंका ही चरित्र-चित्रण किया जाता है। ऐतिहासिक चरित्र चित्रणमें यद्यपि कल्पनाका पुट कुछ मात्रामें रहता है, पर कलाओंकी भांति इतिहासमें कल्पनाकी अबाध गति नहीं पाई जाती। इस प्रकार कलाकी व्यापकता इतिहासकी अपेक्षा बहुत अधिक है। कलाओंके भीतर सृष्टिके समस्त वास्तविक और काल्पनिक क्रिया कलापकी व्यंजनाकी जा सकती है। मनुष्यकी अनुभूतियों कल्पनाओं और उसके सम्पूर्ण ज्ञानका एक वृहत् अंश कलाका विषय बन सकता है। भिन्न वैज्ञानिक अनुसन्धानों दार्शनिक तथ्यों और तार्किक सरणियोंके सांगोपांग वर्णन भी कलाके ही घेरेमें आते हैं। न्यायशास्त्रके नियम कला नहीं कहे जा सकते पर वे इस प्रकार सजाकर छन्दित किये जा सकते हैं कि उनमें कला देख पड़े। सारांश यह कि मनुष्य

और कलायें मनुष्यकी कल्पनासे निस्सृत होती हैं। कल्पनाका विश्लेषण करते हुए इस सम्प्रदायके विद्वान् बतलाते हैं कि वास्तविक जगत्में सभ्यता और समाज व्यवस्थाके कारण हमारी जो इच्छायें दबी रहती हैं वे ही कल्पनामें आती हैं और कल्पना-द्वारा कलाओंमें व्यक्त होती हैं। कलाओंमें शृङ्गार रसका आधिक्य इस बातका प्रमाण बतलाया जाता है। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करनेवाले पाश्चात्य विद्वानोंने शेलीकी कविताओं, माइकेल इंगिलोंकी कला-सृष्टियों और शेक्सपियरके काव्यमें भी इन्हीं दबी हुई इच्छाओंका उद्रेक दिखाया है। इस वर्गके आचार्य फ्रूड नामक विद्वान् हैं, जिन्होंने स्वप्न विज्ञानके निर्माण करनेकी चेष्टा की है और यह सिद्धान्त उपस्थित किया है कि स्वप्नमें मनुष्यकी कल्पना और भावना उन दिशाओंमें जाती है-जिन दिशाओंमें वे समाजकी दृष्टिके सामने नहीं जा पातीं। फ्रूड महोदयके इन्हीं स्वप्न सिद्धान्तों को कुछ विद्वान कविता तथा कलाओंमें भी चरितार्थ करते हैं। परन्तु इस प्रकारके मतोंके सिद्धान्त अधिकांशमें अर्द्धसत्य ही होते हैं और कलाओंको नष्ट करनेमें सहायक बन सकते हैं। यदि यह स्वप्न सिद्धान्त स्वीकार कर लिया जाय और काव्य तथा अन्य कलाओंमें भी इसका अधिकार हो जाय तो कलाओंमें आचारका बहिष्कार हो जाना चाहिए परन्तु इस सिद्धान्तके अपवाद इतने प्रत्यक्ष हैं कि यह किसी प्रकार निर्भ्रान्त नहीं माना जा सकता। यदि कोई कवि या कलाकार किसी सुन्दर रमणीका चित्र अंकित करता है तो उसका यही अभिप्राय नहीं होता कि वह

की भावनाओंका जहाँ तक विस्तार है वह सब कलाका विषय है और यह तो विदित ही है कि नाना-भावनाओंका विस्तार विराट और प्रायः सीमा रहित है।

कला और मनःशक्तियाँ—कुछ पाश्चात्य विद्वानोंने मनुष्यकी मानसिक शक्तियोंको तीन विभागोंमें विभक्त किया है—ज्ञान-शक्ति, भावनाशक्ति, और इच्छा-शक्ति। भारतीय शास्त्रोंमें भी इस प्रकारका श्रेणी-विभाग है, पर यहाँ भावना-शक्तिके स्थान पर प्रक्रिया-शक्तिका नाम दिया गया है। संस्कृत साहित्यमें ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न बुद्धिकी तीन प्रक्रियायें मानी गई हैं। संस्कृतके पण्डितोंने भावना-शक्तिको नहीं माना है, भावना और इच्छा शक्तियाँ इच्छाके ही अन्तर्गत मानी हैं। इन दोनो विभागोंमे यही विशेष अन्तर है। मनोविज्ञान-शास्त्रके अनुसार ये शक्तियाँ एक दूसरेसे अविच्छिन्न रूपमें मिली हुई हैं और अलग नहीं की जा सकतीं। यद्यपि कलाके मूलमें भावना शक्तिका प्राधान्य है, पर भावना-शक्तिका विश्लेषण करने पर उसमें भी ज्ञान और इच्छाकी शक्तियाँ सन्निहित देख पड़ती हैं। भारतीय साहित्य और कलाओंके मूलमें जो स्थायी भाव माने गये हैं वे केवल विक्षिप्तोंकी विवेक-रहित भावनायें नहीं हैं। उनके साथ ज्ञान-शक्तिका भी समन्वय है। ऐसा न होता तो कलाकार और पागलमे भेद ही क्या रह जाता। इसी प्रकार भावनाके साथ इच्छा शक्तिका भी योग रहता है। पाश्चात्य विद्वान् अब तक यह विवाद करनेमें लगे हुए हैं कि प्रारम्भमें मनुष्यकी इच्छा शक्तिका प्रादुर्भाव हुआ या भावना शक्तिका। एक

लिया जाय तो भी सभ्यताकी आवश्यकतायें क्या कुछ कम महत्त्वपूर्ण हैं। चिरविकासशील सभ्यताका पालन न करनेकी आवश्यकता समझकर मनुष्य सदाचारका अभ्यास करता है और अभ्यास-परंपरासे वह उसके शारीरिक तथा मानसिक संगठनका अविच्छेद्य अंग बन जाता है। फिर तो जिस प्रकार पंकसे पंकजकी उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार शारीरिक वृत्तियोंसे मनुष्यकी उदात्त वृत्तियोंका उन्मेष होकर कालान्तरमें परमशोभन रूप धारण करती हैं।

विद्वानोंका एक तीसरा वर्ग "कलाके लिये कला" सिद्धान्त उपस्थित करता है और आचारको कलाके बाहरकी वस्तु ठहराता है, 'कलाके लिये कलाके' सिद्धान्तका अर्थ स्पष्ट न होनेके कारण इस सम्बन्धमें बहुत-सी भ्रान्ति फैली हुई है। कलाके विवेचनमें तो हम भिन्न भिन्न कला वस्तुओंका एक एक करके विवेचन कर सकते हैं अथवा दो या अधिक कला-सृष्टियोंकी अलग-अलग तुलना कर सकते हैं इन कला-सृष्टियोंके स्रष्टा भिन्न-भिन्न मनुष्य होते हैं और सब मनुष्योंके विकासकी परिस्थितियाँ भी भिन्न भिन्न होती हैं। मनुष्य स्वयं एक अद्भुत प्राणी है। वह अपनी परिस्थिति, देश-कालकी परिवर्तित सभ्यता आचार मनःशक्ति आदिका एक जटिल समन्वित रूप है जब वही मनुष्य कला सृष्टि करता है तब उसके द्वारा उसका विवेचन करनेमें इन सम्पूर्ण जटिलताओं पर ध्यान रखना पड़ता है। जब एक व्यक्तिकी एक कला-सृष्टिमें इतनी जटिलतायें हैं तब तो समाजकी सम्पूर्ण कला कृतियों को लेकर उनकी तुलना करके [illegible] [illegible] [illegible] मात्र

प्रसिद्ध कला-शास्त्रीका मत है कि मनुष्यकी भावना शक्तिको इच्छा-शक्तिका परवर्ती मानना उचित नहीं। कलाका सम्बन्ध मनुष्यकी भावनासे ही है, इच्छासे नहीं. कलाके मूलमें यद्यपि भावनाका ही अस्तित्व स्वीकार किया जा सकता है, पर सभ्यताके विकासके साथ ज्यों-ज्यों मनुष्यकी परिस्थितियाँ जटिल होती गईं और उसमें समाजके हित-अहितका ध्यान बढ़ता गया, त्यों त्यों उसकी इच्छा शक्ति दृढ़ होती गई और वह उसके मानसिक संघटनका एक ठोस अंग बन गई। कालान्तरमें मनुष्यकी इच्छा-शक्ति उसकी भावनाओं पर नियंत्रण करने लगी और अब तो मनुष्यका ज्ञान और उसकी इच्छायें उसकी सम्पूर्ण भावनाओंसे एकाकारमें मिली देख पड़ती हैं। मनुष्यकी ज्ञानशक्ति उसकी भावनाओंको चैतन्य बनाती और उसकी इच्छा-शक्ति उन भावनाओंको शृंखलित और संयमित रखती है। इस प्रकार इन तीनोंके संयोगसे कलाओं-द्वारा मानवहितका सम्पादन होता है और उनमें सदाचारकी प्रतिष्ठा होती है। यदि भावना-शक्तिके साथ ज्ञान-शक्तिका समन्वय न होता तो कलायें अपने आदि रूपमें विकसित होकर वर्तमान उन्नति न प्राप्त करतीं और यदि भावना शक्तिके साथ इच्छा शक्तिका समन्वय न होता तो कलाओंकी उच्छृंखलताको रोकना असम्भव हो जाता। अपनी प्रारम्भिक अवस्थामें मनुष्यकी इच्छा शक्तिके साथ लोक हित का सम्बन्ध चाहे न भी रहा हो, पर समाजकी सभ्यताकी वृद्धि होने पर तो उनकी इच्छायें लोकमंगलकी ओर अवश्य उन्मुख हुई। प्रारम्भमें सम्भव है आहार निद्रा भय, मैथुन आदि ही

मनुष्यकी इच्छाशक्तियाँ भी हों, पर आगे चलकर इनके स्थान व ज्यादा इनमें भाग भी था। अन्य संस्कारोंकी भाँति प्रवृत्तियोंका वर्ग हुआ और ये वृत्तियाँ मनुष्यकी भावनाओंमें एकाकार होकर उसके मानसिक संगठनका अभिन्न अंग बन गईं। तात्पर्य यह कि मनुष्यकी सतत वर्द्धमान विवेकशक्ति और उसकी सतत वर्धन-शील इच्छा शक्ति उसकी भावना शक्तिके साथ अभिन्न रूपसे लगी हुई हैं, और ये मिलकर मानव-समाजका विकास करानेमें रत हैं।

कला और प्रकृति—प्रकृतिके विभिन्न स्वरूपों और रूपचेष्टाओंका प्रभाव मनुष्य पर पड़ता है और वे ही उसकी अभिव्यंजनाके विषय बनते हैं। इस दृष्टिसे कला और प्रकृतिका घनिष्ठ सम्बन्ध प्रकट होता है। प्रकृतिके जो चित्र अपनी विशेषताओं अथवा मनुष्यकी अभिरुचिके कारण उसके मनमें अंकित होते हैं उन्हें ही वह कलाओंका रूप देकर व्यंजित करता है। प्रकृतिकी ओर मनुष्य निसर्गतः आकर्षित रहता है, क्योंकि उससे उसकी वासनाओंकी तृप्ति होती है। इस नैसर्गिक आकर्षणका परिणाम यह होता है कि मनुष्य प्रकृतिके उन चित्रोंको अपने हृदयके रससे सिक्त कर अभिव्यंजित करता है और वे ही भिन्न-भिन्न कलाओंके रूपमें प्रकट हो मानव हृदयको रसान्वित करते हैं। भारतीय साहित्यमें इसे ही "रस" कहते हैं, पर साहित्य ही नहीं, अन्य कलाओंसे भी इसकी निष्पत्ति होती है। किसी प्राकृतिक दृश्यको देखकर कलाकारके हृदयमें जो भावना जितनी तीव्रता अथवा स्थायित्वके साथ उदय होगी वह यदि उतनी ही वास्तविकता (सचाई) के साथ उसे

यह मनुष्यके दिल-बहलावकी वस्तु है और कोई "योगः कर्मसुकौशलम्" कहकर अनुपम माहात्म्य व्यक्त करता है। परम्पराके विचारसे कुछ स्थूल और सूक्ष्म कलाएँ भी हैं। अनेक लोगोंके मत से नृत्य-कला भी ललित कला है। ललित कलाएँ तो कला-संसारकी महारानियाँ हैं हीं। वर्ण-विज्ञानकी दृष्टिसे कला चार प्रकारकी बतलायी जाती है और गुण-त्रयके भेदसे तीन प्रकार की। कोई ललित कलाके ६ भेद बतलाते हैं तो कोई सब तरहकी कलाओंके शताधिक भेद-प्रभेद मानते हैं। वैसे परम्परागत कलाके ६४ भेद हैं। अंतरंग और बहिरंग दृष्टिसे भी कला दो प्रकार की हैं। अनेक लोगोंकी दृष्टिसे कलाके अनन्त भेद हैं। इनके अतिरिक्त अनुकरण-प्रधान और कल्पना प्रधान, ये भी कलाके रूप हैं।

कलाका लक्षण—कलाकी लाक्षणिकता पर विद्वानोंके विभिन्न विचार हैं। प्राच्य साहित्यिक परम्परा तो पूर्णतः मानवीय है। प्राचीन लोग मानवता को ही कलाका लक्षण समझते थे। वे कलाविहीन मनुष्यको पशु मानते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि मानवताके समस्त खेल कूद तथा क्रिया कलाप और ज्ञान-ध्यान कला ही है। वर्तमानकालके सर्व श्रेष्ठ व्यक्ति महात्मा गाँधी कला का यही लक्षण करते हैं। उनके विचारसे गीताके दूसरे अध्याय का सम्पूर्ण योग कला है। विचार पूर्वक किये गये प्रत्येक कार्यको वे कला मानते हैं और यह इस लिए कि उससे विधानात्मक रस होता है। वे सेवाको भी कला मानते हैं। वे आत्माके ईश्वरीय सौन्दर्य भी कला बतलाते हैं। ऐसे भी विद्वान हैं जो समस्त मानवीय

व्यक्त करनेमें समर्थ हो तो उस अभिव्यक्तिसे दर्शक, श्रोता अथवा पाठक-समाजकी भी उतनी ही तृप्ति हो सकती है। मनुष्य-मनुष्यके हृदय-साम्यका यही रहस्य है कि कलाकारकी अन्तरात्माका सच्चा भाव उसकी कलावस्तुमें निहित होकर अधिकाधिक मानव-समाजको रसान्वित करनेमें समर्थ होता है। परन्तु जब कभी कलाकारका जीवन अथवा जगत्-सम्बन्धी अनुभव सच्चा नहीं होता तब वह उन्हें उचित रीतिसे व्यक्त करनेमें कृतकार्य नहीं होता और मानव-समाज उसकी कृतिसे तृप्ति नहीं प्राप्त करता। यही कलाकारकी असफलता है। यद्यपि कला प्रकृतिकी अभिव्यंजना ही कही जाती है, तथापि कुछ विद्वान प्रकृतिसे प्राप्त आनन्दको काव्यानन्दसे भिन्न मानते हैं। भारतीय रसशास्त्री जब काव्यके अलौकिक आनन्दका व्याख्यान करता है तब वह प्राकृतिक जगत्को काव्य-जगत्से भिन्न ठहरानेका उपक्रम करता है। जब यह कहा जाता है कि काव्यानन्द तो ब्रह्मानन्द सहोदर है तब यह नहीं कहा जाता कि प्रकृतिका आनन्द भी ब्रह्मानन्द-सहोदर है। इस सम्प्रदायके अनुयायी रसों को नव भेदोंमें बाँटते हैं और बीभत्सरसकी कविताको भी अलौकिकानन्द विधायिनी बतलाते हैं। परन्तु वे यह नहीं स्वीकार करते कि कूड़ा करकटके किसी सड़े गले बीभत्स रूपको देखकर भी वैसे ही आनन्दकी उपलब्धि होती है। ऐसा तो बहुत लोगोंको कहते सुना जाता है कि उन्हें प्राकृतिक वस्तुओंको देखकर वह प्रसन्नता नहीं होती जो काव्यमें उनका वर्णन पढ़कर होती है। इसलिए इटालियन विद्वान क्रोचे भी मानते हैं कि कला अनुभूति

स्वतन्त्र व्यक्तित्व है ? ये बातें मत-भेद से खाली नहीं हैं। परन्तु यह मत भेद अब पुराना हो चला है। अधिकांश समालोचकों और कला-मर्मज्ञोंका यही विचार है कि कला स्वतन्त्र वस्तु है, इसका व्यक्तित्व है, विज्ञान है, गति है और जीवन है। तात्पर्य यह कि सब कुछ है। कला मानव-बुद्धि का सौंदर्यमय फल है, हृदय और आत्मा का विकास है। प्रकृति अनन्त सौंदर्य मय है, अनन्त विज्ञानका घर, नित्य और पूर्ण है परन्तु उसका सौंदर्य कला सौंदर्यकी तुलनामें नहीं ठहर सकता क्योंकि कला मानव हृदयकी वस्तु है कला सौंदर्यपूर्ण है और आत्माकी समीपवर्तिनी वस्तु है। वह सौंदर्य-मय आदर्शोंकी जननी है। आधुनिक पौर्वात्य और पाश्चात्य सभ्यतावादी भी अब इस बातमें विश्वास करने लगे है कि ललित कला पुरुष-संस्पृष्ट होनेके कारण प्रकृतिसे अधिक सुन्दर, सरस, कोमल और हृदयग्राही है। अनेक पौर्वात्य विद्वान कलामें सत्य, शिव और सौंदर्यका अनुभव करते हैं और पाश्चात्य विद्वान भी इसकी आध्यात्मिकता स्वीकार करते हैं। यही कारण है कि वे अब कहने लगे हैं कि—The [illegible] than the beauty [illegible] वे यह भी कहते हैं कि [illegible] is [illegible] अर्थात् प्राकृतिक सौंदर्यसे कला-सौंदर्य श्रेष्ठ है और समस्त वास्तविक कलाएँ कारागार मुक्त आत्माके तुल्य हैं। महाशय [illegible] कहते हैं—Art is [illegible] अर्थात् कला अपरिमेय और अनन्त है। इसीलिए इसमें अनन्त और अपरिमेय पुरुषका सा आनन्द और

एक भिन्न प्रकारकी अनुभूति होता है। परन्तु प्रकृति और कलाका सम्बन्ध दूर रखनेके उद्देशसे कुछ विद्वान इस बातका मंडन करने लगे हैं कि प्राकृतिक आनन्द और काव्यानन्दमें कोई वास्तविक भेद है। हमारे देशकी एक विशिष्ट दर्शन परम्पराके अनुसार तो यह दृश्य जगत माया और मिथ्या है। इसमें लिप्त होना और इससे आनन्द पानेकी आशा करना मृग-मरीचिका है। पर काव्यगत आनन्दके सम्बन्धमें ऐसा आरोप नहीं सुना गया। सम्भव है, इसी कारण रीति-कालका भारतीय साहित्य जीवनसे सम्बन्ध-विच्छेद कर पतित हो गया और उस पतनसे उसका उद्धार न किया जा सका। हिन्दीके कुछ समालोचक केशवदासकी आलंकारिक रचनाओंको हृदयहीन कहते हैं पर यह तो रस-सम्प्रदायकी उस परम्पराका ही परिणाम जान पड़ता है जिसने प्रकृतिसे नाता तोड़कर अलग ही काव्यानन्द बाँटनेका बीड़ा उठाया था।

वास्तविक बात यह जान पड़ती है कि प्राकृतिक आनन्द और काव्यानन्दमें कोई तात्त्विक भेद नहीं है। जो कलाकार प्रकृतिके भिन्न भिन्न रूपोंसे प्रभावित होता है वह प्रकृतिको माया नहीं समझता। उसके प्रति उसका यथार्थ आकर्षण होता है। तभी तो वह उसका रूप-चित्र स्वतः ग्रहण कर उसे अभिव्यक्त करनेमें समर्थ होता है। कलाकारकी जो भावना प्रकृति-वस्तुको कलावस्तुका रूप देनेमें समर्थ हुई है वह इस क्रियाकलापके बीच एक रस रही है। यदि कोई कलाकार किसी वीर राष्ट्रीय नेताकी मूर्ति

इन सब विचारोंके अतिरिक्त एक विचार यह भी है कि "रूप रेखा और शब्दकी अपेक्षा गतिमें सौंदर्य अधिक है। गतिकी अपेक्षा चेतनतामें और चेतनताकी अपेक्षा चेतनास्पद परमात्मामें सौंदर्य अधिक है। इस दृष्टिसे ललित-कला उस चेतनात्मक पुण्य-स्वरूप परमात्माका ही दिग्दर्शन है। इसलिए इसमें जो कुछ है वह उसीका प्रकाश है। उसके सन्मुख प्राकृतिक सौन्दर्य कोई वस्तु नहीं। अनेक लोगोंका यह भी विचार है कि जिन पदार्थोंका जीवन के साथ सम्बन्ध है वे सब सुन्दर हैं। इस दृष्टिसे कला जीवन-व्यापिनी वस्तु है, इसकी उपयोगिता है और इसमें सामाजिक भाव-भावना है। इसीलिए इसके सौन्दर्यका महत्व सर्वाधिक है। मानसिक और नैतिक विचारसे भी यह आवश्यक वस्तु है। इसके प्रदर्शन, निरीक्षण और परीक्षणमें संयम है, आनन्द है और है चरित्र सौन्दर्य। इसलिए कला जीवन और सौन्दर्य है। हाँ, प्रकृति सौन्दर्यका अनन्त ज्ञान हो सकता है, यदि हम उसे ईश्वरीय-भावना की दृष्टिसे देखें।

कला-सौन्दर्यकी आपेक्षिक विशेषता—कलाका सौन्दर्य उसके उपकरणोंकी सूक्ष्मता और उपादान पर अवलम्बित है। जिस कलाके उपकरण और उपादान कारण जितने ही अधिक सूक्ष्म होंगे उसका आनन्द और लालित्य भी उतना ही अधिक होगा, उपकरण और उपादान जितने स्थूल होंगे आनन्द और लालित्य भी उतना ही कम होगा।

वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीत और काव्यकला

अंकित करनेमें समर्थ होता है और वही दूसरी बार किसी शृङ्गार-मूर्तिमती रमणीका चित्र भी चित्रित करनेमें सफल होता है तो यह कल्पना की जा सकती है कि कलाकार की व्यापक भावना योद्धा और रमणी दोनोंसे ही समानरूपमें सहानुभूति रखती है जैसा कि उसकी कलाकी अभिव्यञ्जनासे प्रकट होता है। यदि महाकवि शेक्सपियर एक डाकूका वर्णन भी उतनी ही कुशलतासे करते हैं जितनी कुशलतासे एक साधु पुरुषका तो यह उनके विस्तृत अनुभवकी ही सूचना है। जीवन-सम्बन्धी अनुभव ही काव्य तथा कलाओंमें भी व्यक्त होते हैं। प्रकृति और कलाओंमें विभेद है तो इतना ही है कि प्रकृति साधारण जनोंके लिए बिखरी हुई प्रसरित और विशृंखल भी है, परन्तु कलामें इसे संयम, मर्यादा तथा शृंखला मिलती है। प्रकृतिकी अनुभूति कोई एकान्त अनुभूति नहीं होती,परन्तु कलाकी अनुभूति एकान्त होती है। इसमें एक प्रकारकी पूर्णता होती है जो साधारण आदमीको प्रकृतिमें नहीं देख पड़ती। कलाकार तो प्रकृतिमें उस सम्पूर्ण नियम शृंखला सङ्गतिभाव पूर्णता आदिके दर्शन करता है जो इसकी कलावस्तुमें द्रष्टा श्रोता अथवा पाठक उस कलावस्तुमें करते हैं—यदि कलाकारमें प्राकृतिक दृश्योंको देखकर उन समस्त भावनाओंका उद्गम न हुआ होता तो उसकी कलावस्तुमें वह [illegible] न हो सकती और न उसके देखने सुननेवाले उसमें उन भावनाओंका आनन्द पा सकते। तात्पर्य यह कि सत्य और कलाओंका सम्बन्ध इस अर्थमें भिन्न नहीं है जो साहित्यकार अथवा कलाकारके हृदयमें प्राकृतिक वस्तुओंके

कलाकारके हृदयसे मिला देना ही कलाकी सार्थकता है। इसमें कलाकारकी अनुभूतिको कलाके द्वारा समझनेवाले हृदयकी भी आवश्यकता है और साथ ही समझने योग्य सद्वस्तुकी भी। वास्तवमें कलाका धर्म दो हृदयोंका सम्मिलन कराना है। कला मूर्त्त या अमूर्त्त पदार्थोंके द्वारा उदात्त-भाव भावनाओंकी प्रेरणा, सृष्टि या अभिभावना है। कलाकार जिस विश्व-भावनात्मक प्रकृति का अनुभव करता है, दूसरोंको भी अपनी कलाके द्वारा वह वैसा ही दिखा देता है। यही उसके शिल्पका शिल्पत्व और कलाका कलात्व है। यदि किसी कलाकारके शिल्पमें इस तरहके गुण नहीं हैं तो वह सच्चा कलाकार नहीं। कला-धर्मकी उत्पादकताके लिए शिल्पकारका हृदय भाव प्रधान होना चाहिए। यदि उसका हृदय भाव प्रधान नहीं है, उसमें भावोंका स्रोत नहीं बहता तो वह भावोद्दीपन नहीं कर सकता और न विश्व-भावनासे किसी सहृदयके हृदयको प्रभावित ही कर सकता है। मौलाना हसरत मोहानीने ठीक कहा है—

शेर दर असलमें है वही हसरत,
सुनते ही दिलमें जो उतर आवे।

टेलीफोन, फोनाग्राफ वायरलेस और रेडियोफोन आदि भी वस्तुतः कलाशिल्प हैं, परन्तु इनसे भी बढ़कर चित्र चरित्र-युक्त सजीव विश्व-भावना तथा कलाकारके सच्चे सन्देश और नियत्रण हैं।

कला और आदर्श—अनेक विद्वान कलाका आदर्श केवल आनन्दोपभोग ही समझते हैं, परन्तु आज से बहुत पहले

देखकर उत्पन्न होता है। यह भी कहा जा सकता है कि कलाओंका आनन्द अथवा काव्यानन्द वास्तवमे मूल प्राकृतिक आनन्दका प्रतिबिम्ब होनेके कारण उसका ऋणी भी है। यहाँ प्राकृतिक आनन्दसे तात्पर्य प्रकृतिसे उत्पन्न इन्द्रियगोचर सुखद प्रभावसे है जो मनुष्यकी कल्पना द्वारा उसे प्राप्त होता है। प्राकृतिक वस्तुओंका उपभोग—खाना पीना, सोना आदि—तो उस आनन्दसे नितान्त भिन्न है। उनका यहाँ उल्लेख नहीं किया जाता।

कला और आचार—हम यह उल्लेख कर चुके हैं कि सृष्टिके आदिमें चाहे जो अवस्था रही हो, पर सभ्यताके विकासके साथ मनुष्यमें भले बुरेका ज्ञान दृढ़ हुआ और इस प्रकार आचार मनुष्य-प्रकृतिका एक अन्तरंग बन गया। सम्पूर्ण कला और साहित्यमें मनुष्यके आचारकी छाप पड़ी हुई है। मनुष्यकी विवेक-बुद्धि उसकी इच्छाओंको संयमित रखती है, जिससे उसकी भावनाये परिमार्जित होती जाती हैं। इन परिमार्जित भावनाओंसे सम्पन्न कलायें भी सदैव मनुष्य-समाजकी सद्वृत्तियोकी प्रतिकृति होती हैं। जो देश अथवा जाति जितना अधिक परिष्कृत तथा सभ्य होगा उसकी कलाकृतियाँ भी उतनी ही अधिक सुन्दर और पुष्ट होंगी। इससे स्पष्ट है कि कला-निर्माणमें आचारका विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान है। परन्तु कुछ पाश्चात्य विद्वानोने इस सम्बन्धमें कुछ ऐसे प्रवादोंकी सृष्टिकी है जिससे भ्रम बढ़ रहा है। एक प्रवाद तो उस विद्वद्वर्गका खड़ा किया हुआ है जो मनोविज्ञान-शास्त्रकी जानकारीका गर्व रखता है और यह घोषणा करता है कि कविता

की सम्मतिमें आँख और कान कला-सौन्दर्यके बोधक हैं। अनेक लोग विभिन्न रुचिको ही कला सौन्दर्यकी जननी मानते हैं। आध्यात्मिक पंडित परमात्माकी व्यापक सत्ताको ही कला-सौन्दर्य की उत्पत्तिका कारण समझते हैं। कुछ लोग आत्माको ही इसका कारण मानते हैं। अनेक यूरपीय विद्वानोंके मतसे ज्ञाता और ज्ञेय ही इसके उत्पादक कारण हैं। कुछ विद्वान् स्थपति, भास्कर और चित्र विद्याके सौन्दर्यकी उत्पत्तिका कारण नेत्रेन्द्रिय, संगीत-सौन्दर्य का कारण श्रवणेन्द्रिय और काव्य सौन्दर्यका कारण कल्पनाको समझते हैं। शोपनहार जगतके सब तरहके सौन्दर्यका कारण इच्छा-शक्तिको ही बताता है। हीगल वस्तुके संगठनको ही कला-सौन्दर्यका उत्पादक कारण मानते हैं और मानसिक आनन्दको इसकी प्रतिध्वनि। डाक्टर [illegible] के मतसे कला सौन्दर्यके उत्पादक कारण दो हैं—एक प्रत्यक्ष और दूसरा परोक्ष। इन्हें स्वर और स्वरूप भी कह सकते हैं।

कला और देश-काल—कला पर कला [illegible] और कलाकारके [illegible] है। देश-काल और परिस्थितिका भी प्रभाव [illegible] है। [illegible]

और कलायें मनुष्यकी कल्पनासे निस्सृत होती हैं। कल्पनाका विश्लेषण करते हुए इस सम्प्रदायके विद्वान् बतलाते हैं कि वास्तविक जगत्में सभ्यता और समाज व्यवस्थाके कारण हमारी जो इच्छायें दबी रहती हैं वे ही कल्पनामें आती हैं और कल्पना-द्वारा कलाओंमें व्यक्त होती हैं। कलाओंमें शृङ्गार रसका आधिक्य इस बातका प्रमाण बतलाया जाता है। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करनेवाले पाश्चात्य विद्वानोंने शेलीकी कविताओं, माइकेल इंगिलोकी कला-सृष्टियों और शेक्सपियरके काव्यमें भी इन्हीं दबी हुई इच्छाओंका उद्रेक दिखाया है। इस वर्गके आचार्य फ्रूड नामक विद्वान् हैं, जिन्होंने स्वप्न विज्ञानके निर्माण करनेकी चेष्टा की है और यह सिद्धान्त उपस्थित किया है कि स्वप्नमें मनुष्यकी कल्पना और भावना उन दिशाओंमें जाती है जिन दिशाओंमें वे समाजकी दृष्टिके सामने नहीं जा पातीं। फ्रूड महोदयके इन्हीं स्वप्न सिद्धान्तोंको कुछ विद्वान कविता तथा कलाओंमें भी चरितार्थ करते हैं। परन्तु इस प्रकारके फ्रूडके सिद्धान्त अधिकांशमें अर्द्धसत्य ही होते हैं और कलाओंका अनिष्ट करनेमें सहायक बन सकते हैं। यदि यह स्वप्न सिद्धान्त स्वीकार कर लिया जाय और काव्य तथा अन्य कलाओंमें भी इसका अधिकार हो जाय तो कलाओंसे आचारका बहिष्कार ही समझना चाहिए परन्तु इस सिद्धान्तके अपवाद इतने प्रत्यक्ष हैं कि यह किसी प्रकार निर्भ्रान्त नहीं माना जा सकता। यदि कोई कवि या कलाकार किसी सुन्दर रमणीका चित्र अंकित करता है तो उसका यही अभिप्राय नहीं होता कि वह

संस्कृति भी सम्मिलित करता है। परन्तु प्रत्येक ललितकलाका सौन्दर्य स्थूल कलाकी अपेक्षा सूक्ष्म कलामें अधिक होता है। इसका कारण कलाकी सूक्ष्मता और मनस्तत्व तथा आत्माकी समीपता है। काव्य-कलाका सौन्दर्य अन्य कलाओंकी अपेक्षा अधिक है क्योंकि इसमें कलाकारके व्यक्तिगत सौन्दर्यके साथ-साथ अन्यान्य ललित कलाओंका सौन्दर्य भी सम्मिलित रहता है। वास्तवमें वास्तु, मूर्ति, चित्र और संगीत कलाएँ काव्यमें भी रहती हैं। इन कलाओंमें मिलनेवाली सरसता, माधुर्य-प्रकाश, संगठन, रूप-रेखा, कल्पना, ध्वनि आदि सब कविके काव्यमें प्राप्त हैं। इसके अतिरिक्त सजीवता, गति, विन्यास, विज्ञान, दर्शन और धर्म आदि उसके अत्यधिक सत्संगी हैं। निर्माण, आलम्बन-उद्दीपन और सरसताकी दृष्टिसे कला साक्षात् सरस्वती है। इसमें इन सबके आनन्द मिश्रित होते हैं। यह कला मात्रमें शब्द और रूपके द्वारा विश्वकी सौन्दर्य-राशि को हमारे हृदयोंमें भर देती है।

परमाणुवादीकी "पीलवः पीलवः" की पुकारकी तरह उन्हें भी सर्वत्र अलङ्कारकी ही धुन लगी रहती है। अमुक दोहा या श्लोकमें यमक तथा अनुप्रासकी भरमार है, अमुकमें अपन्हुति अलङ्कार है, अमुकमें विरोधाभास है, अमुकमें अर्थान्तरन्यास है। इसी प्रकारकी "आलोचना"के आधार पर आजकल हमारे साहित्यमें कविता पर विचार होता है। इस बातका एक उदाहरण यहाँ पर हम देते हैं जिससे हमारा कथन कुछ स्पष्ट हो जायेगा। पूज्यपाद मिश्र बन्धुओंने अपने 'नवरत्न' में गोस्वामी तुलसीदासजीके रामचरितमानससे निम्न लिखित पंक्तियाँ उद्धृतकी हैं—

जे पुर गाऊँ बसहिं मग माहीं, तिनहिं नागसुरनगर सिहाहीं।
केहि सुकृती केहि घरी बसाये, धन्य पुन्यमय परम सुहाये॥
जहँ-जहँ राम चरन चलि जाहीं, तेहि समान अमरावति नाहीं।
परसि राम पद पद्म परागा। मानति भूरि-भूमि निज भागा॥

इन चौपाइयोंके सम्बन्धमें उपर्युक्त बन्धुगण लिखते हैं, "इनमें जितना साहित्यका सार कूट कूटकर भरा है उतना शायद संसार-सागर (?) की किसी भी भाषाके किसी पद्यमें कहीं भी न पाया जायगा। जहाँ तक इन लोगोंने कविता देखी या सुनी है इन पंक्तियोंका सा स्वाद क्या अँगरेजी क्या फारसी, क्या हिन्दी क्या उर्दू, क्या संस्कृत किसी भी भाषामें कहीं नहीं पाया जायगा।' माननीय बन्धुगण विद्वान तथा कला मर्मज्ञ हैं। अतः उन्हें ऊपर उद्धृतकी गयी पंक्तियोंमें अपारा आनन्द प्राप्त हुआ है, यह स्वाभाविक ही है। पर ऐसे रसज्ञ होने पर भी इन लोगोंने इन

लिया जाय तो भी सभ्यताकी आवश्यकतायें क्या कुछ कम महत्त्वपूर्ण हैं। चिरविकासशील सभ्यताका पालन न करनेकी आवश्यकता समझकर मनुष्य सदाचारका अभ्यास करता है और अभ्यास-परंपरासे वह उसके शारीरिक तथा मानसिक संगठनका अविच्छेद्य अंग बन जाता है। फिर तो जिस प्रकार पंकसे पंकजकी उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार शारीरिक वृत्तियोंसे मनुष्यकी उदात्त वृत्तियोंका उन्मेष होकर कालान्तरमें परमशोभन रूप धारण करती हैं।

विद्वानोंका एक तीसरा वर्ग "कलाके लिये कलाका" सिद्धान्त उपस्थित करता है और आचारको कलाके बाहरकी वस्तु ठहराता है, 'कलाके लिये कलाके' सिद्धान्तका अर्थ स्पष्ट न होनेके कारण इस सम्बन्धमें बहुत-सी भ्रान्ति फैली हुई है। कलाके विवेचनमें तो हम भिन्न भिन्न कला वस्तुओंका एक एक करके विवेचन कर सकते हैं अथवा दो या अधिक कला-सृष्टियोंकी अलग-अलग तुलना कर सकते हैं। इन कला-सृष्टियोंके स्रष्टा भिन्न-भिन्न मनुष्य होते हैं और सब मनुष्योंके विकासकी परिस्थितियाँ भी भिन्न भिन्न होती हैं। मनुष्य स्वयं एक अज्ञेय प्राणी है। वह अपनी परिस्थिति, देश-कालकी परिस्थिति सभ्यता आचार मनःशक्ति आदिका एक जटिल सम्मिलित रूप है। जब वही मनुष्य कला सृष्टि करता है तब उसके द्वारा उत्पन्न कलाका विवेचन करनेमें इन सम्पूर्ण जटिलताओं पर ध्यान रखना पड़ता है। जब एक व्यक्तिकी एक कला-सृष्टिमें इतनी जटिलतायें हैं तब तो समाजकी सम्पूर्ण कला-कृतियों को लेकर उनकी जाँच करके [illegible] [illegible] प्रकार मत

अनन्त रूपी महासागरमें मिलकर एक प्राण होना ही उसका लक्ष्य है, इसी कारणसे उसका आवेग लक्षित होता है।

अलङ्कार-शास्त्रकी दुहाई देनेवाले विज्ञ आलोचकगण यहाँ पर यह प्रश्न अवश्य ही करेंगे कि यदि अलङ्कारका महत्व इतना थोड़ा है तो संस्कृतमें साहित्यदर्पण, कुवलयानन्दकारिका, भट्टिकाव्य आदि ग्रन्थ अनावश्यक ही क्यों रचे गये ? इसका उत्तर हम यह देंगे कि संस्कृत-साहित्यके अवनतिमूलक (Decadent) युगमें कविताका लक्ष्य केवल विशुद्ध विनोद ही समझा जाने लगा था। उस समयके कवि यह बात भूल गये थे कि कविताका सुर अनन्तकी वेदनासे बजता है, महफिलकी गत नहीं। महफिलमें बैठे हुए 'इश्कके खरीदारों', 'नाज बरदारों' तथा शाही दरबारके मुसाहिबों की वाहवाहीके प्रत्याशी इन कवियोंको साहित्यिक चोचलोंसे ही काम लेना पड़ता था। अमरुक, क्षेमेन्द्र, आनन्दवर्द्धन, गोवर्द्धनाचार्य, भिक्षाटन आदि कवियोंकी कविताका यही हाल है। साहित्यदर्पण आदि अलङ्कारिक ग्रन्थ इसी अवनतिमूलक युगमें रचे गये थे।

कालिदासके युगमें तथा उसके पूर्वकालमें अलङ्कारके सामान्य नियम अवश्य ही प्रतिष्ठित थे पर उनसे 'मर्यादा' की रक्षा पर कवियोंका विशेष ध्यान नहीं था। सब जानते हैं हमारे साहित्यमें बहुत पहलेसे ही यह नियम मान्य था कि किसी साहित्य ग्रन्थकी समाप्ति दुःखमय घटनामें नहीं होनी चाहिये। "मधुरेण समापयेत्"— मधुर रससे समाप्त करे, यह प्रवादवाक्य बहुत पुराना है तथापि रामायणके महाकविने अपने काव्यका [illegible]

भिन्नता—की कोई सीमा ही नहीं मिल सकती। इस अवस्थामें 'कलाके लिये कलाका' हमारे लिये केवल इतना ही अर्थ रह जाता है कि कला एक स्वतन्त्र सृष्टि है, उसके कुछ अपने नियम हैं। उन नियमोंका पालन ही 'कलाके लिए कला' कहला सकता है। कलाके विवेचनमें उन नियमोंके पालन-अपालनके सम्बन्धकी चर्चाकी जाती है और कला साहित्य सम्बन्धी शास्त्रोंमें उन्हीं नियमोंका कोटि-क्रम उपस्थित किया जाता है। इसे कलाओंकी विन्यास पद्धति कहना चाहिए। इन नियमोंका निरूपण कलाके व्यक्तित्वको स्पष्ट करता है और मनुष्यके अन्य क्रिया-कलापोंसे उसकी पृथक्ता दिखाता है। कलाकारकी ओरसे आँखें हटाकर केवल उसकी कला-वस्तुकी परीक्षा की जाती है और इस परीक्षामें व्यापक कलातत्त्व ही सामने आते हैं। आचार सभ्यता और संस्कारके प्रश्न कलाके लिये तात्त्विक नहीं। वे एक एक कलाकृतिकी अलग-अलग विवेचन करने पर उपस्थित होते हैं। हमारे देशके साहित्य-शास्त्रियोंने 'कलाके लिए कलाकी' समस्याको व्यापक रूपमें देखा था और उनकी शास्त्रीय समीक्षाकी पुस्तकोंमें ऐसा ही व्यापक विचार है। पश्चिममें इसे लेकर बहुत-सी खींच-तान हुई है। किन्तु तथ्य इतना ही है कि वस्तुरूपमें कलाओंका प्रत्यक्षीकरण करते हुए आचार आदिके प्रश्न वास्तवमें अन्तर्हित होजाते हैं। इसका यह आशय कदापि नहीं है कि कलाका आचारसे कोई सम्बन्ध नहीं। आशय यही है कि कला-सम्बन्धी शास्त्र आचार-सम्बन्धी शास्त्रसे भिन्न है।

एक जमाना कालिदास के जीवन में ऐसा भी था जब उन्होंने अलंकार-शास्त्र की नियम रक्षा के लिए अपनी प्रथम रचना "ऋतु-संहार" में ऋतुओं की गति के नियम की भी अवहेलना करके ग्रीष्म से ऋतुओं का आरम्भ मानकर मधुऋतु वसन्त के वर्णन में "मधुरेण समापयेत्" की उक्ति के अनुसार काव्य को समाप्त किया था। पर पीछे अपनी प्रतिभाकी अजस्रताके सामने इस प्रकार के कृत्रिम नियमों को तुच्छ समझा। X

ऊपर की बातों से हमारा तात्पर्य यह है कि श्रेष्ठ कवि अपनी कविताकी अनन्त गतिमें सभी प्रचलित लीकोंको बहा ले जाता है। तुलसीदास ने दर्प के साथ लिखा था—

कवित-विवेक एक नहिं मोरे, सत्य कहौं लिखि कागद कोरे।

तुलसीदास की इस उक्ति को कई लोग विनय वाणी कहते हैं। विनय का प्रकाश इसमें अवश्य है पर इसके भीतर रूसोके Confession की तरह एक प्रकार का प्रच्छन्न गर्व भरा है। और यह गर्व अत्यन्त उन्नत तथा उचित है। "कवितविवेक" से उनका

X [illegible]

[illegible] मालूम है— [illegible]

[illegible] S. 102

सकते हैं। कविता पण्डिताई की चीज नहीं है, उसका आनन्द अनुभव ही किया जा सकता है, अलंकारों के निदर्शन से बतलाया नहीं जा सकता। "ज्यों गूंगा गुड खाय के कहै कौन मुख स्वाद ?" जिस कविता का आनन्द अनुभव करने के लिए अलंकार शास्त्रज्ञों की आवश्यकता होती है वह कविता, हमारी राय में, कविता नहीं है। निस्सन्देह कविताके भावकी व्याख्या करना समालोचकका काम है, पर अलंकारों के आधार पर नहीं, पाठकों के हृदय की अनुभूति की कल्पना द्वारा। कारण यह है कि कविता का आनन्द किसी बाह्य नियम के ऊपर निर्भर नहीं है। वह प्रत्येक मनुष्य की आभ्यन्तरिक अनुभूति पर प्रतिष्ठित है। जब हम किसी सुन्दरी रमणी के गम्भीर मर्मस्पर्शी रूप पर विचार करते हैं तब क्या उसका निरूपण कभी इस बात से किया जा सकता है कि उसके हाथोंमें तथा पैरोंमें कितने अलंकार हैं ? उसके स्निग्ध हृदयकी जो सुमधुर छाया उसके कपोलमें, आँखोंमें, ओठोंमें तथा अधरोंमें स्थान रखती है उसका अनुभव हमारा अन्तःकरण करता है, इसी कारण हम उसके रूप पर मुग्ध होते हैं।

आज हमारे देशमें जिस प्रकार परम्परासे प्रचलित नियमोंकी दुहाई देकर [illegible]

अविरल गति हमारी नजरमें आयेगी। मेघदूतमें यक्षकी विरह-वेदनाके रूपकसे कवि न अनन्तके साथ संयोजित होनेके लिए मानवात्माकी व्याकुलता ही प्रदर्शितकी है। इस बृहत् रूपकका रस तुच्छ रूपकालंकारमें कैसे भरा जा सकता है? मेघदूतका प्रत्येक श्लोक रसकी खानि है, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु उसका महत्त्व एक सूत्रमें ग्रथित हुए रत्नोंकी उस मालामें है जिसे श्रद्धा तथा प्रेमके साथ कवि अनन्तके गलेमें पहनाता है। 'अभिज्ञान शाकुन्तल'के श्लोकोंकी उपमाओंके कारण ही यदि हम इस अभिनव नाटकका श्रेष्ठत्व प्रतिपादित करना चाहें तो हम उसका रस खो चुके! दुष्यन्त तथा शकुन्तलाके जीवनके उत्थान-पतनका जो सुन्दर चित्र नाटकमें दिखलाया गया है उसीकी गरिमा लोगोंको इस नाटककी महत्ता है। उस जीवन-चक्रके चित्रको प्रतिबिम्बित करनेमें नाना प्रकारकी उपमाओं तथा अलंकारोंका बड़ा उपयोग हो [illegible]

यह मनुष्यके दिल-बहलावकी वस्तु है और कोई "योगः कर्मसुकौशलम्" कहकर अनुपम माहात्म्य व्यक्त करता है। परम्पराके विचारसे कुछ स्थूल और सूक्ष्म कलाएँ भी हैं। अनेक लोगोंके मत से नृत्य-कला भी ललित कला है। ललित कलाएँ तो कला-संसारकी महारानियाँ हैं हीं। वर्ण-विज्ञानकी दृष्टिसे कला चार प्रकारकी बतलायी जाती है और गुण-त्रयके भेदसे तीन प्रकार की। कोई ललित कलाके ६ भेद बतलाते हैं तो कोई सब तरहकी कलाओंके शताधिक भेद-प्रभेद मानते हैं। वैसे परम्परागत कलाके ६४ भेद हैं। अंतरंग और बहिरंग दृष्टिसे भी कला दो प्रकार की हैं। अनेक लोगोंकी दृष्टिसे कलाके अनन्त भेद हैं। इनके अतिरिक्त अनुकरण-प्रधान और कल्पना प्रधान, ये भी कलाके रूप हैं।

कलाका लक्षण—कलाकी लाक्षणिकता पर विद्वानोंके विभिन्न विचार हैं। प्राच्य लाक्षणिक परम्परा तो पूर्णतः मानवीय है। प्राचीन लोग मानवता को ही कलाका लक्षण समझते थे। वे कलाविहीन मनुष्यको पशु मानते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि मानवताके समस्त क्षेत्र कृत्य तथा क्रिया कलाप और ज्ञान-ध्यान कला ही हैं। वर्तमानकालके सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति महात्मा गाँधी कला का यही लक्षण करते हैं। उनके विचारसे गीताके दूसरे अध्याय का सम्पूर्ण योग कला है। विचार पूर्वक किये गये प्रत्येक कार्यको वे कला मानते हैं और यह इस लिए कि उससे क्रियात्मक रस होता है। वे सेवाको भी कला मानते हैं। वे आत्माके ईश्वरीय साक्षात्कार भी कला बतलाते हैं। ऐसे भी विद्वान हैं जो समस्त मानवीय

कलाका वर्गीकरण

हम लोग इस बातको मान लेते हैं कि कलामें आदर्शकी सत्ता पाई जाती है। इसमें संदेह नहीं कि पहली दशामें आदर्शकी सत्ता भी सिद्ध की जाती है, परन्तु जब हम कलाके वर्गीकरणकी ओर ध्यान देते हैं, तथा उसका वर्गीकरण करने लगते हैं, तब हम लोग इस बातको मान लेते हैं कि कलाका आदर्श होता है, और वह आदर्श भिन्न भिन्न कलाओंमें भिन्न भिन्न साधनोंकी सहायतासे प्रकट किया जा सकता है। इस वर्गीकरणके सम्बन्धमें यह प्रश्न नहीं उठता कि कलाकी सुंदरताका आदर्श है या नहीं। भिन्न-भिन्न कलाओंमें भी उन्हीं सब बातोंका अस्तित्व पाया जाता है, जिनका कलामें। प्रत्येक कलाके आधारोंमें कुछ-न-कुछ एकता और विशेषता होती है, और इन विशेषताओंके कारण इन कलाओंका रूप भी भिन्न भिन्न हो जाता है। प्रत्येक कला सुंदरताकी सृष्टि करती है, और उसको मूर्त खड़ा करती है। वह सुंदरता सबको प्रकाशित करती और कलाकी सहायतासे सत्य हो के मनुष्यके भावों और विचारोंके सामने रखती है।

परन्तु विशेष रूप धारण कर लेनेके कारण जितने प्रश्न कला के सम्बन्धमें उत्पन्न हो सकते हैं वे सबके सब प्रत्येक कलाके सम्बन्धमें नहीं उठ सकते। इसका उदाहरण देना अनुचित न होगा। कुछ लोगोंका कहना है कि कलाने मनुष्योंको नाद लिए

आचार-विचार, नीति धर्म और कर्मको कला का ही रूप समझते हैं और अनेक लोगोंकी दृष्टिमें समस्त नियमित कार्य कला है। मनुष्य के शारीरिक और मानसिक क्रिया-कलाप भी कला हैं। मानवीय आदर्श भी कला ही है। अनेक विद्वान् सभ्यता और संस्कृतिके आनन्द-जनकरूपको कला और साहित्य मानते हैं। एक विचार यह भी है कि मानव सभ्यता और आदर्श जब कलाकार द्वारा वर्ण, ध्वनि आदिका रूप धारण कर हृदयकी तृप्तिका साधन बन जाते हैं तब वे कलाको श्रेणीमें परिगणित होते हैं। वास्तवमें ललित कला हृदयका आविष्कार है—हृदयकी वस्तु है, वह केवल कर्म-कौशल और सृष्टि नहीं है। कला-विज्ञानका एक आचार्य इस सम्बन्धमें लिखता है कि "कला मानव-हृदयके उद्गारोंका स्थूल रूप है। मनुष्यके रसात्मक भाव जब अत्यन्त परिपक्व हो जाते हैं तब वे कलाके रूपमें प्रकट होते हैं। जगतके समस्त द्रव्यपदार्थ, वस्तु और तत्त्व जो हृदयसे सम्बन्ध रखते हैं हृदय हृदयसे उत्पन्न हैं और हृदयको प्रसन्न करनेवाले हैं। एक मात्र हृदय ही जिनका उद्गम-स्थान है वे सब कलाके ही रूप हैं। हमारे तीर्थ, मन्दिर, आदर्श पुरुष और तत्त्वोंके चित्र, मूर्त्तियाँ संगीत और काव्य सब कला ही हैं, क्योंकि ये सब मानव-हृदयकी देन हैं। बालक और बालिकाओंके घरौंदे और गुड़ियाँ भी कला हैं। प्रत्येक मानवीय बनाव कलाका ही रूप है।

कला और प्रकृति—कला और प्रकृतिका आपसमें क्या सम्बन्ध है? कला प्रकृतिका एक मात्र अनुकरण है या इसका

स्वतन्त्र व्यक्तित्व है ? ये बातें मत-भेद से खाली नहीं हैं। परन्तु यह मत भेद अब पुराना हो चला है। अधिकांश समालोचकों और कला-मर्मज्ञोंका यही विचार हैं कि कला स्वतन्त्र वस्तु है, इसका व्यक्तित्व है, विज्ञान है, गति है और जीवन है। तात्पर्य यह कि सब कुछ है। कला मानव-बुद्धि का सौंदर्यमय फल है, हृदय और आत्मा का विकास है। प्रकृति अनन्त सौंदर्य मय है, अनन्त विज्ञानका घर, नित्य और पूर्ण है परन्तु उसका सौंदर्य कला सौंदर्यकी तुलनामें नहीं ठहर सकता क्योंकि कला मानव हृदयकी वस्तु है कला सौंदर्यपूर्ण है और आत्माकी समीपवर्तिनी वस्तु है। वह सौंदर्य-मय आदर्शोंकी जननी है। आधुनिक पौर्वात्य और पाश्चात्य सभ्यतावादी भी अब इस बातमें विश्वास करने लगे हैं कि ललित कला पुरुष-संस्पृष्ट होनेके कारण प्रकृतिसे अधिक सुन्दर, सरस, कोमल और हृदयग्राही है। अनेक पौर्वात्य विद्वान कलामें सत्य, शिव और सौंदर्यका अनुभव करते हैं और पाश्चात्य विद्वान भी इसकी आध्यात्मिकता स्वीकार करते हैं। यही कारण है कि वे अब कहने लगे हैं कि—The [illegible] than the [illegible] वे यह भी कहते हैं कि [illegible] अर्थात् प्राकृतिक सौंदर्यसे कला-सौंदर्य श्रेष्ठ है और [illegible] कारागार मुक्त आत्माके तुल्य है। महाशय [illegible] कहते हैं—Art is [illegible] अर्थात् कला अपरिमेय और अनन्त है। इसीलिए इसमें अनन्त और अपरिमेय पुरुषका सा आनन्द और

और यदि इस कलामें पूर्ण न होगा, तो वह गहरे भावोंको नहीं उत्पन्न कर सकेगा। पूर्ण कलाविद् अच्छा प्रभाव डाल सकता है, और अपनी सृष्टि को अमर कर सकता है। इस प्रकार वास्तु कला, आकार-प्रकार तथा साधनोंकी सहायतासे कलाकी पर्याप्त सत्ताकी सृष्टि कर सकती है। परन्तु इसके आगे वह नहीं जा सकती, क्योंकि वास्तु कला आभ्यन्तरिक आत्माकी ओर केवल संकेत कर सकती है।

मूर्ति-कला—वास्तु कला बाहरी प्रकृतिसे किसी विशेष स्थानको पृथक् करती है, आधारोंकी सहायतासे विशाल भवनमें भ्रम उत्पन्न करती है, उस स्थानको पवित्र कर देती तथा समाजके लिये ईश्वरका मन्दिर बना देती है। इसके बाद मूर्तिकारका कार्य प्रारम्भ होता है। वह उस विशाल मन्दिरमें परमेश्वरको व्यक्तिके रूपमें रखता है। मूर्तिकारके साधनोंमें भी उस व्यक्तित्वकी छाप पाई जाती है। जिस आभ्यन्तरिक आत्माकी ओर वास्तु-कला संकेत करती है उसीको मूर्ति-कला प्रकाशित करती है। वास्तवमें मूर्ति कलामें आभ्यन्तरिक आत्मा और बाहरी साधनोंमें समानता रहती है और इनमेंसे कोई एक प्रधान नहीं होने पाता। मूर्ति कलामें जितनी बातें दिखलाई जाती हैं वे सब की सब इन्द्रिय गम्य होती हैं। इसमें जितनी बातें शारीरिक रूपसे प्रकट की जाती हैं उनका आध्यात्मिक ([illegible]) रूप भी अवश्य ही रहता है, और जितनी बातें आध्यात्मिक होती हैं वे शारीरिक रूपके द्वारा भी अवश्य प्रकट की जा सकती हैं। प्राचीन मूर्तिकार इन

सौंदर्य है। इसी विचार-परम्पराका यह परिणाम है कि कुछ आधुनिक विद्वान् अब कला-निर्माता शिल्पीको कला और उसके आलम्बन (Object) से अधिक ऊँचा मानते हैं। फिर भी कि कलाके नैतिक तथा निर्दोष सर्व भोग्य गुणोंको कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता। कला सौंदर्यके सम्बन्धमें एक विचार यह है कि सौंदर्य सत्य-शिव सम्पन्न है और कला-सौंदर्य भी सत्यात्मक तथा शिवात्मक है। यही नहीं अनेक विद्वानोंके मतसे वह परमात्मकल्प आत्माका सामीप्य है। इस दृष्टिसे सत्य-शिव और कला एक ही वस्तु हैं। भौतिक विज्ञान-समर्थित अंधी प्रकृतिका सौंदर्य इसकी तुलनामें कदापि नहीं ठहर सकता। भौतिक विज्ञानके दृष्टिकोणसे कला सौन्दर्यमें एक विशेषता यह भी है कि चेतन-सत्ताका कार्य है और उसीका भोग्य पदार्थ है, इसलिए इसमें आध्यात्मिक एकत्व की विशेषता और अद्वैतभावका दिग्दर्शन है। इसके अतिरिक्त अनन्तका शान्त रूप ही तो सौन्दर्य है और वह कला गम्य है। इसी दृष्टिसे अर्जुनने भगवान् कृष्णसे कहा था कि भगवन् मुझे अपना मानव रूप ही दिखाइये। वेवरने अपने दर्शनशास्त्रके इतिहास में लिखा है—Art religion and revelation are one and the same thing, superior even to Philosophy. Philosophy conceives Cod; art is God. सारांश यह है कि कला, धर्म और ईश्वरीय प्रकाश एक ही वस्तु हैं और कला दर्शन शास्त्रसे भी उच्चतर है। यह इसलिए कि दर्शन ईश्वरकी केवल कल्पना करता है परन्तु कला स्वयं ईश्वर है।

इन सब विचारोंके अतिरिक्त एक विचार यह भी है कि "रूप रेखा और शब्दकी अपेक्षा गतिमें सौंदर्य अधिक है। गतिकी अपेक्षा चेतनतामें और चेतनताकी अपेक्षा चेतनास्पद परमात्मामें सौंदर्य अधिक है। इस दृष्टिसे ललित-कला उस चेतनात्मक पुरुष-स्वरूप परमात्माका ही दिग्दर्शन है। इसलिए इसमें जो कुछ है वह उसीका प्रकाश है। उसके सन्मुख प्राकृतिक सौन्दर्य कोई वस्तु नहीं। अनेक लोगोंका यह भी विचार है कि जिन पदार्थोंका जीवन के साथ सम्बन्ध है वे सब सुन्दर हैं। इस दृष्टिसे कला जीवन-व्यापिनी वस्तु है, इसकी उपयोगिता है और इसमें सामाजिक भाव-भावना है। इसीलिए इसके सौन्दर्यका महत्व सर्वाधिक है। मानसिक और नैतिक विचारसे भी यह आवश्यक वस्तु है। इसके प्रदर्शन, निरीक्षण और परीक्षणमें संयम है, आनन्द है और है चरित्र सौन्दर्य। इसलिए कला जीवन और सौन्दर्य है। हां, प्रकृति सौन्दर्यका अनन्त ज्ञान हो सकता है, यदि हम उसे ईश्वरीय-भावना की दृष्टिसे देखें।

कला-सौन्दर्यकी आपेक्षिक विशेषता—कलाका सौन्दर्य उसके उपकरणोंकी सूक्ष्मता और उपादान पर अवलम्बित है। जिस कलाके उपकरण और उपादान कारण जितने ही अधिक सूक्ष्म होंगे उसका आनन्द और लालित्य भी उतना ही अधिक होगा, उपकरण और उपादान जितने स्थूल होंगे आनन्द और लालित्य भी उतना ही कम होगा।

वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीत और काव्यकला

टकवैल साहबने अपनी पुस्तक—"Religion and Reality" में लिखा है—

"Just as a work of Art is the expression and embodyment of the Soul of the artist, so, the Universe is the expression of the soul of the Universe (ब्रह्म). For creative principle which we descern to be at work in the Universe at large, is the very same principle which reveals itself, though on a limited scale in the inspired genius af the human Artist And, theretore we can in no more metaphorical language but literal truth, attribute [illegible] precisely the same nature to the [illegible] as we discover [illegible] ferent but

उत्पादक उपकरण क्रमशः सूक्ष्म हैं, इसलिए इनका आनन्द और सौन्दर्य भी क्रमशः अधिक है। काव्य-कलाके उपकरण सर्वाधिक सूक्ष्म हैं, इसलिए उसका सौन्दर्य भी सर्व-श्रेष्ठ और सर्वाधिक है। फिर कलाकारके हस्त कौशल, संस्कृति और व्यक्तित्व पर भी कला का आनन्द निर्भर रहता है। साथ ही द्रष्टाके दृष्टि-कोण, कला सम्बन्धी उसकी योग्यता और शिक्षा-दीक्षासे भी कला-सौन्दर्यका बहुत कुछ सम्बन्ध है। उपयोगिताकी विशेषतासे भी कलाका आनन्द बढ़ जाता है। कलाकी उपयोगिता, सूक्ष्मता, कलाकारका व्यक्तित्व, द्रष्टाकी योग्यता और उसका उच्चादर्श ये सब मिलकर कलाको बहुत ऊँचा उठा देते हैं। किसी कलामें एक या एकसे अधिक सूक्ष्म-कलाओंका समावेश होने पर उसका सौन्दर्य और भी अधिक हो जाता है। चित्र, संगीत और काव्यकला, तीनों कलाएँ सम्मिलित होकर अनिर्वचनीय आनन्द उत्पन्न कर देती हैं। गीति-काव्यमें प्रायः इन तीनोंका सम्मिलन हो जाता है। यदि एकाधिक कलाओंमें कहीं उपजीव्य उपजीवक भाव भी हुआ तो फिर आनन्दो-दधि उमड़ आता है। श्रीमानोंके मन्दिर और महल प्रायः ऐसे ही स्थान हैं। परन्तु कलाओंके सच्चे स्थान धार्मिक मन्दिर ही हैं, क्योंकि उनमें कलाका सर्व भोग्य गुण विद्यमान रहता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक कलाके सापेक्ष आलम्बन, उपभोग, व्यक्तित्व और आश्रय भी कला-सौन्दर्यको लोकोत्तर परमानन्दकी वस्तु बना देते हैं।

कला और धर्म—ललित कलाका एक मात्र धर्म सौंदर्यानुभूति है। दूसरे शब्दोंमें दर्शक और श्रोताके हृदयको

स्वयं भर्तृहरिने कलाके सम्बन्धमें यों लिखा है—

> साहित्य-संगीत-कला-विहीनः
> साक्षात् पशुः पुच्छ-विषाण-हीनः ;
> तृणं न खादन्नपि जीवमान-
> स्तद्भागधेयं परमं पशूनाम् ।

इस श्लोकमें महात्मा भर्तृहरिने साहित्य और संगीत-कलासे रहित मनुष्यको पूँछ रहित साक्षात् पशु माना है । इस अवसर पर हमें यह भी स्मरण रखना चाहिये कि महात्मा भर्तृहरि कोई साधारण आदमी नहीं थे । उन्होंने अपने विस्तृत राज्यको छोड़ दिया था, और प्रेमके राज्यसे निराश होकर वैराग्य धारण कर लिया था । महात्मा भर्तृहरिने सांसारिक सब व्यसनोंको छोड़ दिया था, और अपनी स्त्रीको भी छोड़ दिया था, जैसा कि निम्न-लिखित श्लोकसे प्रकट है—

> "यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता
> साप्यन्यमिच्छति जनं स जनोऽन्यसक्तः ;
> अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या
> धिक्तां च तं च मदनं च इमां च मां च ।

जब महात्मा भर्तृहरिके समान त्यागी पुरुषने कलाकी इतनी प्रशंसा की है, तब अवश्य ही इसमें कोई असाधारण बात होगी, क्योंकि साधारण बातोंकी वह इतनी प्रशंसा कदापि न करते ।

कलाकी प्रशंसामें और भी अनेक विद्वानोंकी सम्मतियाँ उद्धृत की जा सकती हैं परन्तु यहाँ पर इतना ही पर्याप्त होगा ।

कलाकारके हृदयसे मिला देना ही कलाकी सार्थकता है। इसमें कलाकारकी अनुभूतिको कलाके द्वारा समझनेवाले हृदयकी भी आवश्यकता है और साथ ही समझने योग्य सद्वस्तुकी भी। वास्तवमें कलाका धर्म दो हृदयोंका सम्मिलन कराना है। कला मूर्त्त या अमूर्त्त पदार्थोंके द्वारा उदात्त-भाव भावनाओंकी प्रेरणा, सृष्टि या अभिभावना है। कलाकार जिस विश्व-भावनात्मक प्रकृति का अनुभव करता है, दूसरोंको भी अपनी कलाके द्वारा वह वैसा ही दिखा देता है। यही उसके शिल्पका शिल्पत्व और कलाका कलात्व है। यदि किसी कलाकारके शिल्पमें इस तरहके गुण नहीं हैं तो वह सच्चा कलाकार नहीं। कला-धर्मकी उत्पादकताके लिए शिल्पकारका हृदय भाव प्रधान होना चाहिए। यदि उसका हृदय भाव प्रधान नहीं है, उसमें भावोंका स्रोत नहीं बहता तो वह भावोद्दीपन नहीं कर सकता और न विश्व-भावनाले किसी सहृदयके हृदयको प्रभावित ही कर सकता है। मौलाना हसरत मोहानीने ठीक कहा है—

शेर दर असलमें है वही हसरत,
सुनते ही दिलमें जो उतर आवे।

टेलीफोन, फोनोग्राफ वायरलेस और रेडियोग्राम आदि भी वस्तुतः कलाशिल्प हैं, परन्तु इनसे भी बढ़कर चित्र चरित्र-युक्त सजीव विश्व-भावना तथा कलाकारके सच्चे सन्देश और नियन्त्रण हैं।

कला और आदर्श—अनेक विद्वान कलाका आदर्श केवल आनन्दोपभोग ही समझते हैं, परन्तु आज से बहुत पहले

तना ही है कि एकका सम्बन्ध मनुष्यकी शारीरिक और आर्थिक न्नतिसे है, और दूसरीका उसके मानसिक विकाससे।

यह आवश्यक नहीं कि जो वस्तु उपयोगी हो वह सुंदर भी हो। परन्तु मनुष्य सौंदर्योपासक प्राणी है। वह सभी उपयोगी वस्तुओंको यथाशक्ति सुन्दर बनानेका उद्योग करता है। अतएव बहुतसे पदार्थ ऐसे हैं, जो उपयोगी भी हैं और सुन्दर भी, अर्थात् वे दोनो श्रेणियोंके अन्तर्गत आ सकते हैं। कुछ पदार्थ ऐसे भी हैं, जो शुद्ध उपयोगी तो नहीं कहे जा सकते, पर उनके सुन्दर होनेमें सन्देह नहीं।"

थोड़ा भी ध्यान देकर पढ़नेसे स्पष्ट हो जायगा कि उक्त कलाकी परिभाषा कितनी दूषित तथा संसारके पदार्थोंका वर्गीकरण कितना अपूर्ण है। इसमें लेखकने मान लिया है कि संसारके सब पदार्थोंमें उपयोगिता और सुंदरता नामक दो गुण पाए जाते हैं। इस सम्बन्धमे यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या संसारके सब पदार्थोंमें इन दोनों गुणोंके अतिरिक्त और कोई गुण नहीं पाया जाता? क्या संसारकी सब वस्तुओंके गुणोंकी इन्हीमें इतिश्री हो जाती है? यह बात निस्संकोच रूपसे कहा जा सकता है कि सृष्टिमें इन दोनो गुणोंके अतिरिक्त अन्य गुणोंकी भी सत्ता पाई जाती है। उदाहरण के लिये हम 'चपलता, स्थूलता तथा कम्पायमनता आदि गुणोंको भी ले सकते है क्योंकि इनका अस्तित्व भी अवश्य ही इस संसार में पाया जाता है। इसलिये लेखकका उक्त वर्गीकरण सर्वथा अपूर्ण तथा असंगत है। इसके अनन्तर लेखक कलाकी परिभाषा भी दी

ग्रीक-निवासी इसे सौंदर्यकी वस्तु मानते थे, और इनकी दृष्टिमें इसका उपभोग केवल सौंदर्योपासना था। उस समय कलाके आदर्शका समाजवाद और उपयोगितावादके साथ कोई गहरा सम्बन्ध नहीं समझा जाता था किन्तु बादमें कलाके आदर्शमें तीन गुणोंका समावेश हो गया। हिन्दी साहित्य-सेवी भी कलाका आदर्श सत्य शिव और सुन्दर मानते हैं और इनकी कलाका यह आदर्श अब सर्व-मान्य हो चला है। फिर भी अभी अनेक सम्प्रदाय ऐसे हैं जो इस आदर्शको स्वीकार नहीं करते। वे अब भी ग्रीक ही का आदर्श अपने सामने रखते हैं। प्राचीनकालमें संस्कृत साहित्यज्ञ कलाका आदर्श रसानुभूति समझते थे। उन्होंने काव्यकलाका आदर्श रसानुभूति ही माना है। परन्तु वे इसके सामाजिक नैतिक और राजनीतिक उपयोगके मर्मको भी अच्छी तरह जानते थे। यही कारण है कि संस्कृतमें प्रायः इन सब विषयोंके काव्य-ग्रन्थ मिलते हैं। हमारी दृष्टिमें कलाका आदर्श विभिन्न दृष्टिकोणोंके अनुसार अनेक प्रकारका हो सकता है, परन्तु सत्य-शिव और सौंदर्यमें इन सबका प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूपसे समावेश हो जाता है।

कला-सौंदर्यके उत्पादक कारण—ललित-कला हृदय की वस्तु है, हृदयका ही आविष्कार है। इसका जन्मदाता हृदय ही है। इसके विरुद्ध कृषि आदि, कलाओंकी उत्पत्तिका कारण आवश्यकता है। अनेक लोगोंके मतसे मनुष्य की स्वाभाविक रूप स्पृहा कला-सौन्दर्यकी जन्म-दात्री है। इसके विपरीत कुछ विद्वान् इच्छा-शक्तिको ही इसकी उत्पत्तिका कारण मानते हैं। कुछ विचारशीलों

हीगेल कहता है• कि मनुष्यकी क्रियाकी सृष्टि ही कला है। परन्तु हीगेलकी यह परिभाषा भी ठीक नहीं; क्योंकि मनुष्यकी सब क्रियाओंकी सृष्टि कला नहीं कही जा सकती।

जिस प्रकार संसार-भरके तथा प्रत्येक भाषाओंके विद्वानोंने साहित्यकी भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ दी हैं, उसी प्रकार लोगोंने कला की भी परिभाषा दी है, और कलाके सम्बन्धमें अनेक ग्रंथ लिखे गए हैं। इन सब परिभाषाओंमें कलाकी निम्न-लिखित व्याख्या अधिक अच्छी तथा न्याय-संगत मालूम पड़ती है—"सरस-अनुभव (Aesthetic experience) का व्यक्त करना ही कला है।" ध्यान देकर देखनेसे पता चलेगा कि ऊपरकी कलाकी लगभग सब परिभाषाएँ इस परिभाषासे निकाली जा सकी हैं, अथवा इसमें सम्मिलित हैं। यह परिभाषा उक्त अधिक परिभाषाओंसे अधिक व्यापक और हीगेल की परिभाषासे कम व्यापक है। इसके अतिरिक्त इसमें एक और विशेषता है, जो अन्य परिभाषाओंमें नहीं है। इस परिभाषामें सरस और अनुभव, दोनों शब्दोंका प्रयोग हुआ है, और दोनों ही कलाके लिये अत्यन्त ही अधिक आवश्यक हैं। इस परिभाषासे यह भी स्पष्ट है कि कलाके समझनेके लिये सौंदर्य-शास्त्र [illegible] को भी समझना चाहिए। इन दोनोंमें इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि बहुत लोग कला और सौन्दर्य-शास्त्रको एक ही समझते हैं परन्तु वास्तवमें ऐसी बात नहीं है। इसमें लेश-मात्र भी संदेह नहीं कि सौन्दर्य शास्त्र और कलामें कुछ सम्बन्ध

• [illegible]

की सम्मतिमें आँख और कान कला-सौन्दर्यके दीपक हैं। अनेक लोग विभिन्न रुचिको ही कला सौन्दर्यकी जननी मानते हैं। आध्यात्मिक पंडित परमात्माकी व्यापक सत्ताको ही कला-सौन्दर्य की उत्पत्तिका कारण समझते हैं। कुछ लोग आत्माको ही इसका कारण मानते हैं। अनेक यूरपीय विद्वानोंके मतसे ज्ञाता और ज्ञेय ही इसके उत्पादक कारण हैं। कुछ विद्वान् स्थपति, भास्कर और चित्र विद्याके सौन्दर्यकी उत्पत्तिका कारण नेत्रेन्द्रिय, संगीत-सौन्दर्य का कारण श्रवणेन्द्रिय और काव्य सौन्दर्यका कारण कल्पनाको समझते हैं। शोपनहार जगतके सब तरहके सौन्दर्यका कारण इच्छा-शक्तिको ही बताता है। हीगल वस्तुके संगठनको ही कला-सौन्दर्यका उत्पादक कारण मानते हैं और मानसिक आनन्दको इसकी प्रतिध्वनि। डाक्टर (Gaul) के मतसे कला सौन्दर्यके उत्पादक कारण दो हैं—एक प्रत्यक्ष और दूसरा परोक्ष। इन्हें स्वर और रूप भी कह सकते हैं।

कला और देश-काल—कला पर [illegible] और [illegible] हैं। देश-काल और [illegible] है। [illegible] और [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] और [illegible] [illegible] और [illegible]

संस्कृति भी सम्मिलित करता है। परन्तु प्रत्येक ललितकलाका सौन्दर्य स्थूल कलाकी अपेक्षा सूक्ष्म कलामें अधिक होता है। इसका कारण कलाकी सूक्ष्मता और मनस्तत्व तथा आत्माकी समीपता है। काव्य-कलाका सौन्दर्य अन्य कलाओंकी अपेक्षा अधिक है क्योंकि इसमें कलाकारके व्यक्तिगत सौन्दर्यके साथ-साथ अन्यान्य ललित कलाओंका सौन्दर्य भी सम्मिलित रहता है। वास्तवमें वास्तु, मूर्ति, चित्र और संगीत कलाएँ काव्यमें भी रहती है। इन कलाओंमें मिलनेवाली सरसता, माधुर्य-प्रकाश, संगठन, रूप-रेखा, कल्पना, ध्वनि आदि सब कविके काव्यमें प्राप्त हैं। इसके अतिरिक्त सजीवता, गति, विन्यास, विज्ञान, दर्शन और धर्म आदि उसके अत्यधिक सत्संगी हैं। निर्माण, आलम्बन-उद्दीपन और सरसताकी दृष्टिसे कला साक्षात् सरस्वती है। इसमें इन सबके आनन्द मिश्रित होते है। यह क्षण मात्रमें शब्द और रूपके द्वारा विश्वकी सौन्दर्य-राशि को हमारे हृदयोंमें भर देती है।

ही नहीं, कल्पनाकी मसिसे लिखे जाने पर भी काव्यके प्रत्येक शब्द और अक्षर वास्तविक संसारके प्रतिबिम्ब ही हैं। यदि कवि कालिदास भ्रमरको डाली-डाली घूमकर मधुपान करते देखकर प्रसन्न न होते तो रानी हंसपदिकासे दुष्यन्तके प्रति उलाहना रूपमें यह कदापि न कहलाते कि—

अभिनवमधुलोलुपस्त्व तथा परिचुम्ब्य चूत मञ्जरी।
कमलवसतिमात्रनिर्वृतो मधुकर विस्मृतोऽसि एनां कथं॥

कितना मार्मिक भाव प्रदर्शन है! पाठक पढ़कर आनन्दसे नाच उठते हैं! यह कहना नितान्त भ्रम मूलक है कि उपर्युक्त कविने बिना सोचे-समझे केवल भावावेशमें आकर यह कह दिया है। स्वयम् इंग्लैण्डके कालिदास शेक्सपियर जिनकी प्रशंसामें डॉ० ब्राडलेने सहस्रों पंक्तियाँ लिखी हैं यदि यह समझकर कि प्रेम समयका चाकर नहीं है, आनन्दोल्लासमें न बह उठते अथवा पाठकोंको आनन्दित करनेकी इच्छा न रखते तो वह कभी भी न लिखते कि—

Love is not tune's fool,
Though rosy lips and cheeks
Within his be[illegible] compass come

अर्थात्—"प्रेमको समय भुलावा नहीं दे सकता। यद्यपि गुलाबी होंठ व गालों पर उसके हँसियाका प्रहार होता है।" अथवा उर्दू काव्यकी प्रसिद्ध पंक्तियां कि—

[illegible]
[illegible]

यदि सौन्दर्य्याभास ही कविताका मुख्य गुण है तो तीन वस्तुओंकी सहायता अनिवार्य्य है। प्रथमतः अनुभव वस्तु, दूसरा अनुभवी और तीसरे उस अनुभवसे शुद्ध मनोरञ्जन-ग्राही। इनमेंसे एककी भी अनुपस्थितिमें काव्य एक पग भी आगे नहीं बढ़ सकता। क्योंकि यदि वस्तु नहीं तो अनुभव किसका? यदि अनुभवी नहीं तो अनुभव करेगा कौन? और यदि अनुभवका विवेकी नहीं, तो अनुभव किसके लिए? यह तीनों बातें काव्यको वास्तविक संसारसे, उधार मांगनी पड़ेंगी। अतएव डॉ० ब्राडलेकी काव्य स्वतन्त्रता नामको ही रह जाती है। इसे सांसारिक मनुष्यों तथा वस्तुओंसे पग पग पर सहायता लेनी ही पड़ती है। इसका सौन्दर्य्य-पात्र संसार हीमें मिलेगा, इसका सौन्दर्य्य स्वादन संसार हीमें होगा। यदि बढ़ई मेज बनानेको संसारसे काठ ले और संसार हीमें बेचे तो केवल बसूला चलानेही में स्वतन्त्र होगा। ठीक यही दशा कविताकी है। यह ठीक है कि कवि अपनी अद्भुत शक्ति द्वारा वस्तु विशेषको नवीन रूप दर देता है किन्तु मृत्तिका फिर भी इसी संसारकी रह जाती है। उदाहरणत यदि कवि कोई नव-यौवनाके विशाल नेत्रों पर रीझे तो उसको इतना कह सकता है कि जिस वस्तु तथा जीव विशेषसे तुलना करें उन्हींको उन्हें देखने तथा आनन्द लेनेका अवसर, माना वह उनसे हीन है जैसा कि नासिखने निम्नाङ्कित शेरमें किया है —

[illegible]।

[illegible]।

परमाणुवादीकी "पीलवः पीलवः" की पुकारकी तरह इन्हें भी सर्वत्र अलङ्कारकी ही धुन लगी रहती है। अमुक दोहा या श्लोकमें यमक तथा अनुप्रासकी भरमार है, अमुकमें अपन्हुति अलङ्कार है, अमुकमें विरोधाभास है, अमुकमें अर्थान्तरन्यास है। इसी प्रकारकी "आलोचना"के आधार पर आजकल हमारे साहित्यमें कविता पर विचार होता है। इस बातका एक उदाहरण यहाँ पर हम देते हैं जिससे हमारा कथन कुछ स्पष्ट हो जायेगा। पूज्यपाद मिश्र बन्धुओंने अपने 'नवरत्न' में गोस्वामी तुलसीदासजीके रामचरितमानससे निम्न लिखित पंक्तियाँ उद्धृतकी हैं—

जे पुर गाऊँ बसहिं मग माहीं, तिनहिं नागसुर-नगर सिहाहीं।
केहि सुकृती केहि घरी बसाये, धन्य पुन्यमय परम सुहाये॥
जहँ-जहँ राम चरन चलि जाहीं, तेहि समान अमरावति नाहीं।
परसि राम पद पद्म परागा मानति भूरि-भूमि निज भागा॥

इन चौपाइयोंके सम्बन्धमें उपर्युक्त बन्धुगण लिखते हैं, "इनमें जितना साहित्यका सार कूट कूटकर भरा है उतना शायद संसार-सागर (?) की किसी भी भाषाके किसी पद्यमें कहीं भी न पाया जायगा। जहाँ तक हम लोगोंने कविता देखा या सुनी है इन पंक्तियोंका सा स्वाद क्या अँगरेजी क्या फारसी, क्या हिन्दी क्या उर्दू, क्या संस्कृत किसी भी भाषामें कहीं नहीं पाया जायगा।' माननीय बन्धुगण विद्वान तथा कला मर्मज्ञ हैं। अत: इन्हें ऊपर उद्धृतकी गयी पंक्तियोंमें इतना आनन्द प्राप्त हुआ है, यह स्वाभाविक ही है। पर ऐसे रसज्ञ होने पर भी इन लोगोंने इन

दिया है! किन्तु सुयौवना तथा सौन्दर्य संसारही की है। अतएव काव्य-संसारका केवल इस संसारसे ही सरोकार नहीं है, वरन् वह अपने जीवनके लिये उसका आभारी भी है।

काव्य-संसारको स्वतन्त्रता यदि सचमुच नहीं मिली तब तो यह कहना कि उसके आचार-विचार सर्वतः भिन्न हैं केवल शब्दाडम्बर है। क्योंकि यदि वस्तुको उधार लेना और उसे व्याज सहित लौटाना आवश्यक है, तब ऋण देनेवालेका नियमोल्लंघन क्षम्य न होगा। यह निश्चित है कि कलई करने पर भी वस्तुका वस्तुत्व संसारही का है। उसका उपयोग काव्य-संसारमें नहीं वास्तविक संसारही में होगा। इस संसारका अटल नियम है—सत्यसे विमुख न होना। वर्ड्सवर्थके शब्दोंमें—"कविताका ध्येय सत्य ही है—व्यक्तिगत अथवा स्थानिक भले ही न हो, किन्तु व्यवहारिक तथा सार्वदेशिक तो है ही।' अतएव काव्यको सत्य रूढ होना अनिवार्य है। किन्तु सत्यका क्षेत्र असीमित है। संसारके समस्त आचार विचार, धर्म तथा सौन्दर्य केवल इसीके पोषक हैं। वस्तुको सत्य अथवा सुन्दर एवं न इसी आधार पर कहा जा सकता है कि उसमें सत्यकी [illegible] नहीं की गया है। [illegible] अपनी [illegible] आवश्यकता [illegible] ने लिखा है— [illegible] है, और [illegible] कह सकते हैं कि [illegible] ही है—[illegible] सुन्दर है सुन्दरता शुभ है और [illegible] शुभ तथा सुन्दर है। [illegible] है। [illegible]

अनन्त रूपी महासागरमें मिलकर एक प्राण होना ही उसका लक्ष्य है, इसी कारणसे उसका आवेग लक्षित होता है।

अलङ्कार-शास्त्रकी दुहाई देनेवाले विज्ञ आलोचकगण यहाँ पर यह प्रश्न अवश्य ही करेंगे कि यदि अलङ्कारका महत्त्व इतना थोड़ा है तो संस्कृतमें साहित्यदर्पण, कुवलयानन्दकारिका, भट्टिकाव्य आदि ग्रन्थ अनावश्यक ही क्यों रचे गये ? इसका उत्तर हम यह देंगे कि संस्कृत-साहित्यके अनवर्तनमूलक (Decadent) युगमें कविताका लक्ष्य केवल विशुद्ध विनोद ही समझा जाने लगा था। उस समयके कवि यह बात भूल गये थे कि कविताका सुर अनन्तकी वेदनासे बजता है, महफिलकी गत नहीं। महफिलमें बैठे हुए 'इश्कके खरीदारों', 'नाज बरदारों' तथा शाही दरबारके मुसाहिबोंकी वाहवाहीके प्रत्याशी इन कवियोंको साहित्यिक चोचलोंसे ही काम लेना पड़ता था। अमरुक, क्षेमेन्द्र, आनन्दवर्द्धन, गोवर्द्धनाचार्य, भिक्षाटन आदि कवियोंकी कविताका यही हाल है। साहित्य-दर्पण आदि अलङ्कारिक ग्रन्थ इसी अवनतिमूलक युगमें रचे गये थे।

कालिदासके युगमें तथा उसके पूर्वकालमें अलङ्कारके सामान्य नियम अवश्य ही प्रतिष्ठित थे पर उनकी 'मर्यादा' की रक्षा पर कवियोंका विशेष ध्यान नहीं था। सब जानते हैं हमारे साहित्यमें बहुत पहलेसे ही यह नियम मान्य था कि किसी साहित्य ग्रन्थकी समाप्ति दुःखान्त घटनामें नहीं होनी चाहिये। "मधुरेण समापयेत"— मधुर रसमें समाप्त करे, यह प्रवादवाक्य बहुत पुराना है तथापि रामायणके रचयिताने अपने काव्यका [illegible]

या सत्य है वह अवश्य रुचिकर है।' अस्तु, इससे यह सिद्ध होता
कि सत्य तथा सदाचार आदर्श सौन्दर्य्यके आवश्यक अङ्ग हैं।
ाँ किसी कलावस्तुके विवेचनमें इन बाह्य वस्तुओं पर जानकारी
ा ध्यान नहीं जाता, किन्तु जिस मस्तिष्क द्वारा इसकी परीक्षा
होती है वह अनजानमें इन्हीं विचारोंसे रंगा पड़ा है। इसका संकेत
क्लटन ब्राकने स्वयम् भी किया है। उन्हीं ओजस्वी शब्दोंमें:—

'During it (seeing a piece of art) we look neither before or after; only now exists for us, freed from all that has been or will be...... If we are to live utterly in the now, that now must be full not empty; it must convince us of its reality, just as heaven if it were to be heaven would need to convince of its reality.'

अर्थात्—"किसी कला पदार्थके देखनेमें हम आगे पीछे नहीं देखते; केवल वर्तमान ही उपस्थित रहता है जिससे कि भूत तथा भविष्यसे कोई नाता नहीं। यदि हमें केवल वर्तमानमें रहना है तो वह वर्तमान परिपूर्ण हो शून्य नहीं उसको अपनी सच्चाईका इसी प्रकार विश्वास दिलाना पड़ेगा जिस प्रकार स्वर्गको दिलाना पड़ता है कि वह वास्तवमें स्वर्ग है।" अतएव [illegible] काव्य के लिए [illegible] है। [illegible] सत्य है [illegible] यदि सत्य है तो कला पदार्थ भी सत्य होगा। [illegible] भावोंसे प्रभावान्वित होते हैं—[illegible] लिखा

करके इस तुच्छ नियमकी अवहेलना की। यह बात सभी स्वीकार करेंगे कि रामायणकी कथा दुःखान्त है। सीता-विसर्जनकी परिणति सीताके पाताल-प्रवेशमें होती है। सीताने सुखसे पुलकित होकर पाताल-प्रवेश नहीं किया था। महाजटिल तथा विर्मायिकापूर्ण दुःखका भार जब उन्हें असह्य हो उठा तब वे कातर कण्ठसे अनन्य गति होकर बोल उठीं, "तदामे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति।" यह पाताल प्रवेश एक प्रकारसे आत्महत्याका उत्तम स्वरूप है। अन्तर इतना ही है कि आत्महत्या भूतका समस्त बन्धन छिन्नकर देती है और पाताल प्रवेश भूतको अनन्त भविष्यके साथ सम्मिलित करता है। इसी भूत और भविष्यके संयोगकी सूचनाके कारण पाताल प्रवेशका इतना महत्व है। जो कुछ भी हो हमारा तात्पर्य यही है कि रामायण का अन्त सुखकर नहीं है। रघुवंश में कालिदास ने अग्निवर्ण की चरम दुर्गति दिखलाकर इस काव्य की समाप्ति भी दुःख में की है। अलंकार शास्त्र की नियम रक्षा का यदि विचार किया जाय तो उन्होंने सुदर्शन का चरित्र वर्णित करके ग्रन्थ को समाप्त कर दिया होता। अग्निवर्ण तक वंश वर्णन को लेजाकर फिर उसमें भी उस भाग विलास मत्त रघुवंशी के जीवन का दुर्गतिपूर्ण तथा महा करुण ट्रेजेडी चित्र दे अन्त में अंकित करके कवि ने यही बतलाया है कि वह एक महा पराक्रमी वंश के प्रभात मध्याह्न तथा सन्ध्या का क्रमिक विकास दिखलाना चाहता है और इस विकास के चित्रांकन में अलंकार शास्त्र के किसी कृत्रिम नियम की रुकावट वह नहीं मान सकता।

पिय राख्यो परदेस तें, अति अद्भुत दरसाय।
कनक-कलस पानिप भरे, सगुन उरोज दिखाय॥

— मतिराम

प्रीतमको अपने उरोज दिखा दिये और वह काम वशीभूत हो परदेश नहीं गया। यह नायिका ईवन मार्गनकी मिस ओनीलसे कम नहीं, जिसने अपने सभी कपड़े उतार डाले थे। ऐसे भाव उत्तम नहीं हो सकते— केवल कामुकताकी दुर्गन्ध आती है, यहाँ रस परिपाक कहाँ, और कला लालित्य कहाँ? "बिहारी" की एक नायिका है—

देवर फूल हने जु सुठि, उठे हरषि अंग फूलि।
हँसी करति औषधि सखिनु, देह ददोरन भूलि॥

देवरने भाभीको फूलसे मार दिया। जिस प्रसङ्गवाले शरीर रोमाञ्चित हो फूल उठा। सखियां समझीं कि देहमें ददोरे पड़ गये हैं। वे दवा करने लगीं। इसी पर भाभी हँस पड़ी। इससे तो भाभी तथा देवरके दूषित सम्बन्ध स्पष्ट हैं। अतएव ऐसे भाव शब्दोंके दूधसे चाहे जितने धोये जाँय सुन्दर नहीं। यह कहना कि कवि इनका प्रदर्शन कर सकता है क्योंकि वह स्वतन्त्र है, केवल भ्रम है। इससे न तो शुद्ध मनका कवि ही आनन्दित हो सकता है और न पाठक। [illegible] एक [illegible] ऐसे भाव संसारके [illegible] है। [illegible]

एक जमाना कालिदास के जीवन में ऐसा भी था जब उन्होंने अलंकार-शास्त्र की नियम रक्षा के लिए अपनी प्रथम रचना "ऋतु-संहार" में ऋतुओं की गति के नियम की भी अवहेलना करके ग्रीष्म से ऋतुओं का आरम्भ मानकर मधुऋतु वसन्त के वर्णन में "मधुरेण समापयेत्" की उक्ति के अनुसार काव्य को समाप्त किया था। पर पीछे अपनी प्रतिभाकी अजस्रताके सामने इस प्रकार के कृत्रिम नियमों को तुच्छ समझा।X

ऊपर की बातों से हमारा तात्पर्य यह है कि श्रेष्ठ कवि अपनी कविताकी अनन्त गतिमें सभी प्रचलित लीकोंको बहा ले जाता है। तुलसीदास ने दर्प के साथ लिखा था—

कवित-विवेक एक नहिं मोरे, सत्य कहौं लिखि कागद कोरे।

तुलसीदास की इस उक्ति को कई लोग विनय वाणी कहते हैं। विनय का प्रकाश इसमें अवश्य है पर इसके भीतर रूसोके Confession की तरह एक प्रकार का प्रच्छन्न गर्व भरा है। और यह गर्व अत्यन्त उन्नत तथा उचित है। "कविविवेक' से उनका

X [illegible]

स्वच्छ कणोंके समान चमकता रहता है। कवि कोलेरिजने स्वयम् कहा है—'कलाकार केवल प्रकृतिका अनुकरण करे तो यह उसका व्यर्थ प्रयत्न है। यदि किसी दिये हुए शरीर को जिसमें सौन्दर्य्याभासकी सम्भावना हो चित्रित करे तो उस चित्रमें भावका भूठापन, अकत्रिमता तथा शून्यता प्रकट हो जायगी। आपको प्रकृतिके तत्व पर हाथ अवश्य लगाना होगा परन्तु तत्व पर जो विराट्रूपमें आत्मा तथा प्रकृति को सम्बद्ध करता है।" अस्तु केवल अनुभव-प्रदर्शनको काव्य कहना सरासर भूल है।

इसका तात्पर्य यह नहीं कि बुरे अनुभव तथा अनाचारी भाव दिखला हो नहीं सकता। ऐसा करनेसे काव्यका क्षेत्र बहुत संकुचित हो जायगा और यह होना असम्भव भी है। कवि किसी भी वस्तु को काव्य-संसारसे सदोष होनेके कारण पृथक नहीं कर सकता। ऐसा होने पर वाल्मीकिकी 'रामायण', होमरका 'इलियड' मिल्टन का 'पैराडाइज लास्ट' आदि सभी महाकाव्य साहित्यसे निकालकर फेंक देने पड़ेंगे। क्योंकि जहाँ रामका चरित्र है वहाँ रावणका भी है, इसी प्रकार अन्य महाकाव्योंमें सेटन (Satan) आदि दुष्टोंका जीवनचरित्र है। रस्किनके शब्दोंमें "मनुष्योंके इन गीत महान पुरुषोंके आदर्शोंको लिए हुए लय तथा दुःखके प्रदर्शन हैं।" सचमुच संसार में सत्य तथा असत्य में धर्म तथा अधर्म में देव तथा दानवों में सदासे संग्राम होता आया है। ठीक इस प्रकार युद्ध मनुष्यके हृदय-संसारमें प्रति क्षण होता रहता है। यदि कविता वास्तवमें जीवनका प्रतिबिम्ब है तो

सकते हैं। कविता पण्डिताई की चीज नहीं है, इसका आनन्द अनुभव ही किया जा सकता है, अलंकारों के निदर्शन से बतलाया नहीं जा सकता। "ज्यों गूंगा गुड खाय के कहै कौन मुख स्वाद?" जिस कविता का आनन्द अनुभव करने के लिए अलंकार शास्त्रों को आवश्यकता होती है वह कविता, हमारी राय में, कविता नहीं है। निस्सन्देह कविताके भावकी व्याख्या करना समालोचकका काम है, पर अलंकारों के आधार पर नहीं, पाठकों के हृदय की अनुभूति की कल्पना द्वारा। कारण यह है कि कविता का आनन्द किसी बाह्य नियम के ऊपर निर्भर नहीं है। वह प्रत्येक मनुष्य की आभ्यन्तरिक अनुभूति पर प्रतिष्ठित है। जब हम किसी सुन्दरी रमणी के गम्भीर मर्मस्पर्शी रूप पर विचार करते हैं तब क्या उसका निरूपण कभी इस बात से किया जा सकता है कि उसके हाथोंमें तथा पैरोंमें कितने अलंकार हैं? उसके स्निग्ध हृदयकी जो सुमधुर छाया उसके कपालमें, आँखोंमें, ओठोंमें तथा अधरोंमें स्थान रखती है उसका अनुभव हमारा अन्तस्तल करता है, इसी कारण हम उसके रूप पर मुग्ध होते हैं।

आज हमारे देशमें जिस प्रकार [illegible] प्रचलित नियमोंकी [illegible]

यह समझना दुष्कर होगया है कि अलंकार-शास्त्रके आधार पर रची गयी, महफिलोंकी वाह-वाहीके लिए लिखी गयी नायक-नायिका भेदकी "कवितायें" निम्न श्रेणीकी कलाके अन्तर्गत हैं; उन्हींके पीछे चिपटे रहनेमें साहित्यकी उन्नति असम्भव है। हमारे साहित्यकों तथा साहित्यालोचकोंको यह बात मालूम होनी चाहिये कि अलकार-शास्त्रमें वर्णित नव रसोंसे अनेक परिमाणमें व्यापक कितने ही महारसोंका आविष्कार ससार-साहित्यमें हो चुका है और आगे हो रहा है। बालकी खाल निकालकर खण्ड खण्ड रूपसे कविता पर विचार करनेके कारण ये महारस दृष्टिगोचर नहीं होते। समग्रताकी दृष्टिसे विचार करने पर ही वे दिखलायी देते हैं। तुलसीदासके 'रामचरितमानस' पर यदि समग्रताकी दृष्टिसे विचार किया जाय तो इसमें सब नव रसोंको सागरमें बिन्दुके समान एकाकार करनेवाले भक्तिरसकी ही अखण्डता वयाप्त हुई मालूम पड़ेगी। इसी प्रकार विरह रस, विषाद-रस, रूपक-रस (रूपकालंकार नहीं) आदि कई ऐसे रस हैं जिनमें शृङ्गार, करुण आदि समस्त रस मिलकर एकीभूत होजाते हैं। 'मेघदूत' के श्लोकों का यदि खण्ड-खण्ड करके विश्लेषण किया जाय तो शृंगार, करुण आदि रसोंका ही "रत्नच्छायाव्यतिकर इव" रगीन किरण समूह (Spectrum) दृष्टिभूत होगा। पर जिस शुभ्र ज्योतिसे यह रंगीन किरण-समूह उद्भूत हुआ है उसका पता भी कहीं नहीं चलेगा। परन्तु समग्रताकी दृष्टिसे यदि विचार किया जाय तो इसमें विरह-रस तथा रूपक-रस (Symbolism) की ही

अविरल गति हमारी नजरमें आयेगी। मेघदूतमें यक्षकी विरह-वेदनाके रूपकसे कवि ने अनन्तके साथ संयोजित होनेके लिए मानवात्माकी व्याकुलता ही प्रदर्शितकी है। इस बृहत् रूपकका रस तुच्छ रूपकालंकारमें कैसे भरा जा सकता है? मेघदूतका प्रत्येक श्लोक रसकी खानि है, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु उसका महत्त्व एक सूत्रमें ग्रथित हुए रत्नोंकी उस मालामें है जिसे श्रद्धा तथा प्रेमके साथ कवि अनन्तके गलेमें पहनाता है। 'अभिज्ञान शाकुन्तल'के श्लोकोंकी उपमा छटाके कारण ही यदि हम इस अभिनव नाटकका श्रेष्ठत्व प्रतिपादित करना चाहें तो हम उसका रस ले चुके! दुष्यन्त तथा शकुन्तलाके जीवनके उत्थान-पतनका जो सुन्दर चित्र नाटकमें दिखलाया गया है उसीकी गरिमाने इस नाटककी महत्ता है। इस जीवन-चक्रके चित्रको प्रतिबिम्बित करनेमें नाना प्रकारकी उपमाओं तथा अलंकारोंसे बहुत सहायता मिला है परन्तु उन सबके कारण उसके [illegible] सौन्दर्य पर विचार नहीं किया जा सकता। इन [illegible] श्लोकोंका [illegible] ऊपर

सुखका आदर्श सम्प्रदायिक मानसिक ही माना गया है। स्थूल अथवा ऐन्द्रिक आत्मिक सुखको नीचे रखा गया है। प्रथम साम, दामादि ६ गुणों से विभूषित हैं अतएव ग्रहणीय हैं, और दूसरा त्याज्य है, क्योंकि वह काम, क्रोधादि ६ अवगुणोंका आश्रयदाता है। काम-भाव आत्माको मलिन कर सर्वनाश तक कर देते हैं। जैसा कि कवि स्काट कहते हैं—

His soul like Bark with rudder lost
One passion's Changeful tide was lost

× × × ×

And o, when passion rules how rare
The hours that fall to virtues share

अर्थात्—"काम समुद्रमें इसकी बिना पतवारकी नौका पड़ रही, और लहरोंमें झकोरे खाने लगी। जब आत्मा पर काम विजय पाता है, तब अच्छाईके समय बहुत कम बीतता है?" इसीलिए भगवान् बुद्धादि महात्माओंने इन्द्रिय निग्रहका आदेश किया है। प्रसिद्ध दार्शनिक [illegible] का विचार है कि '[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible] दिया है।

में व्यस्त न रहेंगे। उसी दिनकी आशा पर हमारा साहित्यिक गौरव निर्भर है। आजकलके साहित्यिक पण्डों तथा ठेकेदारोंकी संकीर्णता तथा हठाकारिता पर नहीं।

कलाका वर्गीकरण

हम लोग इस बातको मान लेते हैं कि कलामें आदर्शकी सत्ता पाई जाती है। इसमें संदेह नहीं कि पहली दशामें आदर्शकी सत्ता भी सिद्ध की जाती है, परन्तु जब हम कलाके वर्गीकरणकी ओर ध्यान देते हैं, तथा उसका वर्गीकरण करने लगते हैं, तब हम लोग इस बातको मान लेते हैं कि कलाका आदर्श होता है, और वह आदर्श भिन्न भिन्न कलाओंमें भिन्न भिन्न साधनोंकी सहायतासे प्रकट किया जा सकता है। इस वर्गीकरणके सम्बन्धमें यह प्रश्न नहीं उठता कि कलाकी सुंदरताका आदर्श है या नहीं। भिन्न-भिन्न कलाओंमें भी उन्हीं सब बातोंका अस्तित्व पाया जाता है, जिनका कलामें। प्रत्येक कलाके आधारोंमें कुछ-न-कुछ एकता और विशेषता होती है, और इन विशेषताओंके कारण इन कलाओंका रूप भी भिन्न भिन्न हो जाता है। प्रत्येक कला सुंदरताकी सृष्टि करती है, और उसकी मूर्ति खड़ी करती है। यही सुंदरता सत्यको प्रकाशित करती और कलाकी सहायतासे सत्य ही को मनुष्यके भावों और विचारोंके सामने रखती है।

परन्तु विशेष रूप धारण कर लेनेके कारण जितने प्रश्न कला के सम्बन्धमें उत्पन्न हो सकते हैं वे सबके सब प्रत्येक कलाके सम्बन्धमें नहीं उठ सकते। इसका उदाहरण देना अनुचित न होगा। कुछ लोगोंका कहना है कि कलाने मनुष्योंको नाद लिए

कलाकारोंको धिक्कार है जो कलाके बहाने मनुष्योंको सद्मार्गसे हटा कर इन्द्रिय-वशीभूत करके आत्माओंको कुचल देते हैं। बा० श्यामसुन्दरदासका कथन अक्षरशः सत्य है कि "आचार और नीतिका विरोध तथा उनकी उपेक्षा या अभावसे कविताकी अभिवृद्धि नहीं हो सकती क्योंकि, सदाचार और नीतिकी बातें जीवनसे भिन्न नहीं हो सकती। और यह निश्चय है कि काव्य-जीवनकी [illegible] अतिरिक्त कुछ नहीं है।"

देखना तो केवल यह है कि जिस रमणीयताका गुणगान मिश्रजीने विषय-रसकी कविताके सम्बन्धमें किया है वह कहां तक उचित है। यदि वह मधुर शब्दोंसे तथा शुभालङ्कारोंसे विभूषित होने पर इन्द्रिय-संयमको प्रोत्साहित नहीं करती, तो रमणीय कदापि नहीं कही जा सकती। उदाहरणतः 'केशव'जी कहते हैं कि-

केशव चूक सबै सहतो, मुख चूम चले यह तो न सहोंगी ॥
कै मुख चूमन दै फिर मोहि कै आपनी धायसों जाय कहोंगी ॥

ग्वाल-बालिका अज्ञात ललना नहीं है। इसमें आत्म-संयम कहां! मानसिक सुख कहां! यहाँ तो सजीव पाशुकता है जो आत्माको घुनकी नाईं खा रही है। अथवा रसिकताप्रिय 'शङ्कर' जीकी पंक्तियों कि —

खोलत [illegible]
[illegible]

यह किसी अज्ञात नवयुवकके मनका विचार नहीं है जो यों [illegible] से उसे स्वप्नमें देख सकता हो। वरन् वह [illegible] है, उससे प्रकाश भी पा चुका है। इसके [illegible]

सकता है। कुछ लोग कहते हैं, कला व्यर्थ और निरर्थक है। लोग कहते हैं, कला असत्य और काल्पनिक है। परन्तु दूसरे कहते हैं, कला वास्तवमें सत्य है, कलासे ज्ञानकी उत्पत्ति सकती है, और इससे कल्याण भी हो सकता है। ये सब बातें कलाके सम्बन्धमें कही जाती हैं। इनके अतिरिक्त और भी बातें कलाके सम्बन्धमें कही जाती हैं। परन्तु ये सब बातें भिन्न सब कलाओंके सम्बन्धमें नहीं कही जा सकतीं।

अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि किन किन विशेष कलाओं किन-किन बातोंमे समानता होती है, और किन-किन बातोंमें विष मता। इस प्रश्न का उत्तर भी कलाके वर्गीकरणके पहले नहीं दिया जा सकता। वास्तवमें कलाओंका वर्गीकरण एक बहुत ही महत्व पूर्ण, परन्तु कठिन प्रश्न है; क्यों इनकी संख्या भी निश्चित नहीं है। कोई कलाको तीन भागोंमे विभाजित करते हैं, कोई पाँच और कोई छः तथा कोई इसे और भी अधिक भागोंमें विभाजित करते हैं। कुछ लोग नृत्यको भी कला समझते हैं; परन्तु कुछ लोग इसकी गणना कलामें नहीं करते। भारतमे प्राचीन कालमें नृत्यकी गणना कलामें की जाती थी। महादेवजीका ताण्डव-नृत्य भारतमें अच्छी तरह प्रसिद्ध है।

कलाके वर्गीकरणके पहले उन आधारों तथा सिद्धान्तोंको निश्चित कर लेना चाहिए, जिनके अनुसार वर्गीकरण करना हो। भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों तथा आधारोंके माननेसे भिन्न भिन्न वर्गीकरण उत्पन्न हो सकते हैं। भिन्न-भिन्न लेखकोंने वर्गीकरणके भिन्न

To Shelter thee from tempest and from rain:
Then be my deer, Since I am Such park,
No dog shall rouse thee, though,
a thousand bark.

उपमा हिरन तथा उद्यानसे ली गयी है। वीनसका एडोनिस-के प्रति प्रति कथन है कि मेरे होठों पर चरो, और पानी न मिले तो नीचे खिसक जाना जहाँ कि सहस्रों फौव्वारे खेल रहे हैं। इसी शरीरमें समुचित मन बहलावके सामान हैं— उत्तम दूब, उभरे हुए मनोहर मैदान, गोल छोटी-छोटी पहाड़ियाँ, और छिपे कोटर हैं जिनसे कि आंधी पानीसे बचत होगी। तुम मेरे हिरन बनकर पार्कमें पड़े रहो—सहस्रों श्वानोंके भूंकने पर भी तुम्हारी निद्रा भंग नहीं हो सकती। नायिका नख-शिख पर्यन्त सभी इन्द्रियाँ अर्पण करके रति की भिक्षा मांग रही है। इससे इन्द्रिय-निग्रह होगा अथवा व्यभिचार! कवि इटन इसीसे घबराकर कहते हैं कि—

Show me [illegible] breasts
[illegible]

और यदि इस कलामें पूर्ण न होगा, तो वह गहरे भावोंको नहीं उत्पन्न कर सकेगा। पूर्ण कलाविद् अच्छा प्रभाव डाल सकता है, और अपनी सृष्टि को अमर कर सकता है। इस प्रकार वास्तु कला, आकार-प्रकार तथा साधनोंकी सहायतासे कलाकी पर्याप्त सत्ताकी सृष्टि कर सकती है। परन्तु इसके आगे वह नहीं जा सकती, क्योंकि वास्तु कला आभ्यन्तरिक आत्माकी ओर केवल संकेत कर सकती है।

मूर्ति-कला—वास्तु कला बाहरी प्रकृतिसे किसी विशेष स्थानको पृथक् करती है, आधारोंकी सहायतासे विशाल भवनमें ध्यान उत्पन्न करती है, उस स्थानको पवित्र कर देती तथा समाजके लिये ईश्वरका मन्दिर बना देती है। इसके बाद मूर्तिकारका कार्य प्रारम्भ होता है। वह उस विशाल मन्दिरमें परमेश्वरको व्यक्तिके रूपमें रखता है। मूर्तिकारके साधनोंमें भी उस व्यक्तित्वकी छाप पाई जाती है। जिस आभ्यन्तरिक आत्माकी ओर वास्तु-कला संकेत करती है उसीको मूर्ति-कला प्रकाशित करती है। वास्तवमें मूर्ति कलामें आभ्यन्तरिक आत्मा और बाहरी साधनोंमें समानता रहती है और इनमेंसे कोई एक प्रधान नहीं होने पाता। मूर्ति कलामें जितनी बातें दिखाई जाती हैं वे सब भौतिक इन्द्रिय गम्य होती हैं। इसमें जितनी बातें शारीरिक रूपसे प्रकट की जाती हैं उनका आध्यात्मिक ([illegible]) रूप भी अवश्य हो जाता है, और जितनी बातें आध्यात्मिक होती हैं वे शारीरिक रूपके द्वारा भी अवश्य प्रकट की जा सकती हैं। इसमें मूर्तिकार इन

प्रदर्शनमें लगे रहते हैं, क्योंकि उच्च भावोंकी ओर अपनी दुर्बलताके कारण उनका ध्यान ही नहीं जाता। इस पर यह कहा जा सकता है कि बड़े-से-बड़े कविने इस रसमें कविता की है। किन्तु इसका भी उत्तर है। संसारमें बहुतसे महान पुरुषोंने चोरीभी की है, किन्तु क्या चोरी अनुकरणीय हो सकती है ? संसारका इतना बड़ा कलाकार 'ओस्कर वाईल्ड' एक बड़े दुराचारके अभियोगमें जेल-यात्रा भुगतता रहा, तो क्या कलाकारके महान होनेमें दुराचारी होनाभी आवश्यक है ? कवि भी मनुष्य है, इसी मनुष्यत्वके नाते वह भी भूलकर बैठता है, अवश्य उस भूलको भूल जाना आवश्यक है। उसके अच्छे कार्य परही दृष्टि डालनी चाहिये। शेक्सपियरको ख्याति लियर और हैमलेटसे मिली, न कि वीनस एडोनिससे, कालिदासको ख्याति शाकुन्तल ऐसे प्रेमके अद्वितीय चित्रणके कारण मिली न कि विपरीत क्रियाओंके वर्णनसे। कृति कलाका चिह्न है न कि काम-शास्त्रका

सम्बन्ध है। संगीत-कलामें भी ऐंद्रिक आदर्श रहता है, और २ देश (Spacc) एक विंदु पर निश्चित करनेका प्रयत्न किया जा है। इस प्रकारसे चित्र-कला और वास्तु-कलाके मध्यमें मूर्ति है, इसी प्रकार चित्र कला और काव्य-कलाके बीचमें संगीत-कला है। चित्र-कलामें देशका चित्रण किया जाता है, और काव्य-कलामें सूक्ष्म आत्माका। संगीत-कलामें इन दोनोंका कुछ कुछ अंश लिया जाता है। संगीत-कलामें स्वरोंके नियमोंका भी पालन करना पड़ता है।

काव्य-कला—काव्य-कलाका स्थान सब कलाओंमें सबसे ऊँचा माना जाता है। चित्र-कला और संगीत-कलामें भी मस्तिष्क पर प्रभाव पड़ता है। यह प्रभाव काव्य-कलामें और भी अधिक हो जाता है। काव्य कलामें केवल नाद ही आधार रहता है। इसका आधार शाब्दिक संकेत है। प्रत्येक नाद भावों अथवा विचारोंके द्योतक हैं। इसलिये इन नादोंसे शब्द बन जाते हैं जो काव्य-कलाका आधार है और जो भावों अथवा विचारोंको प्रकट करता है। सगीत-कला जिस आदर्शकी ओर सकेत करती है और जिसे कार्य रूपमें परिणत करनेका प्रयत्न करती है, वह काव्य-कला में प्राप्त हो जाता है। काव्य-कलामें कल्पनाका स्थान बहुत ऊँचा है। इसमें सदेह नहीं कि सब कलाओंमें कल्पनाकी आवश्यकता होती है। इस अशमें काव्य कला और सब कलाओंके समान ही है। परतु काव्य-कलाकी कल्पना स्वतन्त्र होती है। इसलिये यह इस कलामें एक विशेष रूप धारण कर लेती है जिसका अस्तित्व

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्।

समूढमस्य पांसुरे।

किसीभी विज्ञान-संबंधी नियमकी पराकाष्ठा यही है कि वह अतिशय सामान्य शब्दोंमें व्यक्त किया हो। वह जितना व्यापक होगा, उतनाही श्रेष्ठ है और प्रकृतिके उतनेही अधिक रहस्योंकी कुंजी है। साथही वह जितना अधिक व्यापक होगा, उतनाही उसे सरलभी होना चाहिए (The more generalised a scientific law is, the simpler it is) विष्णुने तीन पैरमें त्रिलोकी को नाप लिया, इससे सरल और व्यापक नियमकी संभावना कहाँ है। प्रत्येक परमाणुके अंतःकरण पर और विराट् सौर मंडलके वक्ष पर यही नियम लिखा हुआ है—

विष्णुने तीन चरणोंमें तीन लोकोंको नाप लिया है, पिंड और ब्रह्मांड सभी आदि, अंत और मध्यवाले हैं, सभी को रज, सत और तम की अवस्थाओंमें से निकलना पड़ता है कोई भी सर्ग, स्थिति और प्रलयके चक्रसे नहीं बचा है। इसलिये भागवतके महर्षि हमारे विस्मरण हमें स्मरण दिलाते हैं—

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्।

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्।

समूळ्हमस्य पांसुरे।

किसीभी विज्ञान-संबंधी नियमकी पराकाष्ठा यही है कि वह अतिशय सामान्य शब्दोंमें व्यक्त किया हो। वह जितना व्यापक होगा, उतनाही श्रेष्ठ है और प्रकृतिके उतनेही अधिक रहस्योंकी कुंजी है। साथही वह जितना अधिक व्यापक होगा, उतनाही उसे सरलभी होना चाहिए (The more generalised a scientific law is, the simpler it is) विष्णुने तीन पैरमें त्रिलोकी को नाप लिया, इससे सरल और व्यापक नियमकी संभावना नहीं है। प्रत्येक परमाणुके अंतःकरण पर और विराट् सौर मंडलके पद पद पर यही नियम लिखा हुआ है—

विष्णुने तीन चरणोंमें तीन लोकोंको नाप लिया है, पिंड और ब्रह्मांड सभी आदि, अंत और मध्यवाले हैं, सभी को सत्व, रज और तम की अवस्थाओंमें से निकलना पड़ता है, कोई भी सर्ग, स्थिति और प्रलयके चक्रसे नहीं बचा है। इसलिये भारतमें संस्कृतमें हमारे विद्वान इसे स्मरण दिलाते हैं—

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्।

हो गया है, इसीके लिये व्यक्तसे अव्यक्त-स्थितिमें चले जानेसे परि-वेदना नहीं है—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।

अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ गीता ॥

अव्यक्त, व्यक्त और फिर अव्यक्त, यही विष्णुका त्रेधा विचक्रमण है। इसीको कृष्णने कौमार, यौवन और जरा भी कहा है और 'सनूटमस्वपांसुरं' के उत्तरमें बताया है कि धीर इन सबमें पड़कर मोह को नहीं प्राप्त होते।

धीरस्तत्र न मुह्यति—गीता २।१३ ।

नटराज शिवके नृत्यके श्रीगणेश, मध्य और पर्यवसानके साथ

टकवैल साहबने अपनी पुस्तक—"Religion and Reality" में लिखा है—

"Just as a work of Art is the expression and embodyment of the Soul of the artist, so, the Universe is the expression of the soul of the Universe (ब्रह्म). For creative principle which we descern to be at work in the Universe at large, is the very same principle which reveals itself, though on a limited scale in the inspired genius af the human Artist And, theretore we can in no more metaphorical language but literal truth, attribute [illegible] the same nature to the [illegible] we discover [illegible] [illegible] but [illegible]

इसका आशय यह है— जिस प्रकार ब्रह्मकी आत्माका व्यक्तीकरण ही यह विश्व है उसी प्रकार कलाविद्की आत्माका व्यक्तीकरण तथा उसकी मूर्त्ति ही कलाविद्का कार्य है। सृष्टिके जिस सिद्धान्तको हम लोग इस ब्रह्माण्ड भरमें विस्तृत रूपसे पाते हैं ठीक-ठीक उसी सिद्धान्तको हम लोग कलाविद्की ईश्वरीय प्रतिभामें भी पाते हैं। इन दोनोंमें भेद केवल इतना है कि कलाविद्के कार्य

और काव्यके सदृश कला भी राष्ट्रीय संस्कृतिकी आत्माका एक विकसित रूप है। वह इस त्रिकसे कैसे बच सकती थी। वस्तुतः भारतीय संस्कृति समन्वय प्रधान (Synthesis loving) है। हमारे देशके अंतःकरणको वह वस्तु रुचतीही नहीं, जिसमें 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' का सम्मिलन न हो। इन तीनों गुणोंके परिपाकसे भारतीय कलामें विलक्षण शांति, आनंद और सौंदर्यकी स्थिति है। भविष्यके कलाकोविद इस विशेषताको ध्यानमें रक्खें, तभी वे राष्ट्रीय कलाके सच्चे प्रतिनिधि कहला सकेंगे।

इन तीन गुणोंको अच्छी तरह समझ लेना प्रत्येक कला-मर्मज्ञके लिये भी आवश्यक है, क्योंकि बिना इनका ज्ञान हुए वह प्राचीन कलाका सहानुभूति पूर्ण अनुशीलन करनेसे वंचित रहेगा और साथही उन अनेक विशेषताओंको न समझ सकेगा, जिन्होंने गौण रूपसे समवेत होकर राष्ट्रके कलात्मक जीवनमें भाग लिया है।

सत्य = [illegible] —ब्रह्मा

शिव = [illegible] —शिव

सुन्दर = [illegible] —विष्णु

का पैमाना अपेक्षाकृत बहुत छोटा होता है। जब हम कहते हैं कि ब्रह्मके अनुभवके समान ही कलाविद्का भी अनुभव होता है, तब किसी लाक्षणिक भाषाका प्रयोग नहीं करते, किंतु इसे अक्षरशः सत्य मानते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि एक बड़े पैमाने पर है और दूसरा छोटे पैमाने पर; परन्तु सृष्टि करनेका सिद्धांत दोनोंमें एक ही है।"

टकवैलके इस कथनसे स्पष्ट है कि वह कलाविद्को एक बहुत ही ऊँचा स्थान देता है, और उसके अनुभव की, ब्रह्म—स्वयं परमेश्वर—के अनुभवसे तुलना करता है।

एक दूसरा प्रसिद्ध अँगरेज लेखक कहता है—"Truth like Art is an end in itself." इसका भावार्थ यह है—"कलाकी तरह सत्य भी परिणाम है, साधन नहीं।" इस कथनसे भी कलाकी महत्ता प्रकट होती है।

कलाके सम्बन्धमें भारतीय विद्वानोंने भी अपने मत प्रकट किए हैं। उपनिषद्में एक स्थान पर लिखा है—"ब्रह्म ही पूर्ण कलाविद् है, और यह विशाल सृष्टि उसकी कला है।" इस प्रकार स्वयं उपनिषद्के लेखकने भी स्वयं परमेश्वरके लिये 'कलाविद्' शब्दका प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त वेदांत-दर्शनमें एक स्थान पर लिखा है—'ब्रह्म एक विशाल और प्राचीन कवि है, और यह सारा विश्व उसकी कविता है, जो छन्दों, पद्यों और लयों तथा आनन्दके रूपमें प्रकट होती है।" इसके अतिरिक्त संस्कृत साहित्य मे भी कला तथा कलाविदोंकी प्रशंसा अनेक स्थलों पर की गई है।

स्वयं भर्तृहरिने कलाके सम्बन्धमें यों लिखा है—

साहित्य-संगीत-कला-विहीनः
साक्षात् पशुः पुच्छ-विषाण-हीनः ;
तृणं न खादन्नपि जीवमान-
स्तद्भागधेयं परमं पशूनाम् ।

इस श्लोकमें महात्मा भर्तृहरिने साहित्य और संगीत-कलासे रहित मनुष्यको पूँछ रहित साक्षात् पशु माना है। इस अवसर पर हमें यह भी स्मरण रखना चाहिये कि महात्मा भर्तृहरि कोई साधारण आदमी नहीं थे। उन्होंने अपने विस्तृत राज्यको छोड़ दिया था, और प्रेमके राज्यसे निराश होकर वैराग्य धारण कर लिया था। महात्मा भर्तृहरिने सांसारिक सब व्यसनोंको छोड़ दिया था, और अपनी स्त्रीको भी छोड़ दिया था, जैसा कि निम्न-लिखित श्लोकसे प्रकट है—

"या चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता
साप्यन्यमिच्छति जनं स जनोऽन्यसक्तः ;
अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या
धिक्तां च तं च मदनं च इमां च मां च ।

जब महात्मा भर्तृहरिके समान त्यागी पुरुषने कलाकी इतनी प्रशंसा की है, तब अवश्य ही इसमें कोई असाधारण बात होगी, क्योंकि साधारण बातोंकी वह इतनी प्रशंसा कदापि न करते ।

कलाकी प्रशंसामें और भी अनेक विद्वानोंकी सम्मतियाँ उद्धृत की जा सकती हैं परन्तु यहाँ पर इतना ही पर्याप्त होगा ।

इतना ही है कि एकका सम्बन्ध मनुष्यकी शारीरिक और आर्थिक उन्नतिसे है, और दूसरीका उसके मानसिक विकाससे।

यह आवश्यक नहीं कि जो वस्तु उपयोगी हो वह सुंदर भी हो। परन्तु मनुष्य सौंदर्योपासक प्राणी है। वह सभी उपयोगी वस्तुओंको यथाशक्ति सुन्दर बनानेका उद्योग करता है। अतएव बहुतसे पदार्थ ऐसे हैं, जो उपयोगी भी हैं और सुन्दर भी, अर्थात् वे दोनो श्रेणियोंके अन्तर्गत आ सकते हैं। कुछ पदार्थ ऐसे भी हैं, जो शुद्ध उपयोगी तो नहीं कहे जा सकते, पर उनके सुन्दर होनेमें सन्देह नहीं।"

थोड़ा भी ध्यान देकर पढ़नेसे स्पष्ट हो जायगा कि उक्त कलाकी परिभाषा कितनी दूषित तथा संसारके पदार्थोंका वर्गीकरण कितना अपूर्ण है। इसमें लेखकने मान लिया है कि संसारके सब पदार्थोंमें उपयोगिता और सुंदरता नामक दो गुण पाए जाते हैं। इस सम्बन्ध मे यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या संसारके सब पदार्थोंमें इन दोनों गुणोंके अतिरिक्त और कोई गुण नहीं पाया जाता? क्या संसारकी सब वस्तुओंके गुणोंकी इन्हींमें इतिश्री हो जाती है? यह बात निस्सन्देह रूपसे कहा जा सकता है कि सृष्टिमें इन दोनो गुणोंके अतिरिक्त अन्य गुणोंकी भी सत्ता पाई जाती है। उदाहरण के लिये हम 'सरलता, सत्यता तथा स्वाभिमानता आदि गुणोंको भी ले सकते हैं क्योंकि इनका अस्तित्व भी अवश्य ही इस संसा
में पाया जाता है। इसलिये लेखकका उक्त वर्गीकरण सर्वथा अपू
तथा असंगत है। इसके अनन्तर लेखकने कलाकी परिभाषा भी दे

कालिदासने भारतीय कलाके सर्वोच्च रहस्यको प्रकट कर दिया है। कलाको ग्राह्य बनानेके लिये नए आयोजनका सूत्रपात हुआ और कविकी वाणीसे—

'इयेष सा कर्तुमवन्ध्यरूपतां तपोभिरास्थाय समाधिमात्मनः।'

के स्वर गुंजारने लगे। प्रथम सर्गकी पार्वतीमें चमक-दमक बहुत है, पर उसमें तपस्याका तेज नहीं है। पंचम सर्गमें कविने पहली पार्वतीको तपाकर खूब निखारा है: अतमें समस्त मलीनताओंसे परिशुद्ध उनके दर्शनार्ह तेजको देखकर हमें अलौकिक आनंद और शांति प्राप्त होती है। ज्ञानी या ऋषिकी स्थितिमें पहुँचे हुए मनुष्यको भी पंचम सर्गकी पार्वती आनंद दे सकती है।

इस प्रकार तपसे सँवारी हुई कला लोक-पराङ्मुख रहे, तो भी आनंद नहीं होगा। इसलिये अंतमें सप्तम सर्गकी पार्वती है, जिनके तपोऽवदात शरीरको कविने उसी प्रकार सजाया है, जैसे सुवर्णकार तपे हुए सोने पर अपनी कलाके सौभाग्यको निछावर करता है। प्रेम और संयमके रहस्य-तारतम्यकी व्याख्या करके भी कविने कलाकी प्रधानताको आच्छन्न नहीं होने दिया। प्रथम, पंचम और सप्तम सर्गकी पार्वतीके तीन सूत्रोंको समझकर 'सत्य शिव सुंदरम्' का रहस्य अवगत करके अजन्ता-कलाका अध्ययन करनेवाले विद्यार्थीको अपूर्व आनंदकी प्रतीति होगी।

विष्णुका तीसरा चरण इलोराके कैलास मंदिरमें रक्खा गया था। जिन शताब्दियोंने शंकरको जन्म दिया, उन्हींमें कैलास मन्दिरका निर्माण हुआ। शंकरके पूर्ववर्ती आरम्भ हैं, जिनके [illegible]

दुर्ग राष्ट्रकूटोंने शङ्करके सिद्धान्तोंको मूर्त्तिमन्त देखनेका संकल्प किया और कैलाश मन्दिरके विशालकाय दुर्घटदन्तियोंको गढ़कर तैयार किया। इसके संस्पर्शसे आत्मामेंभी विभूति और ऐश्वर्य (Grandeur, Majesty) के भावोंका प्रादुर्भाव हुआ। कैलाश के दर्शन करनेवाले प्रत्येक यात्रीके मुंहसे विभूतिमान् और ऐश्वर्यमान्, ये दो विशेषण अनायासही निकल पड़ते हैं। ब्रह्मात्मैक्यवादके प्रचारसे बृहणताके तत्वको गौरव प्राप्त हुआ, फलतः मनुष्यके दोने आकारसे तिगुनी चौगुनी विशालतावाली प्रतिमायें बनने लगीं। मनुष्य देहके साधारण परिमाणमें बँधी हुई आत्मा वामन थी वही महत्स्थान पाकर विराट बनी। उसके विराट् परिमाणको प्रकट करनेके लिये इलोराके कलाकोविदों ने सहर्ष प्रयास किया है। इस प्रयासमें स्वाभाविक चमक छिपी हुई है। कहीं भी बनावटताका लेश नहीं है।

संसारके भारसे अभ्यासित आत्मा पहले दबी जाती थी वही अब इस विपुल गौरव भारको प्रसूनके समान धारण करती है। कैलाश मन्दिरको स्थापत्य कला रूपसे देखने पर अस्वाभाविक जान पड़ता है परन्तु दार्शनिक तत्वके साथ मिलाकर देखनेसे उसमें स्वाभाविकता की प्रचुर मात्रा मिलती है। यदि वह ब्रह्मात्मैक्य का सिद्धान्त ठीक है तो कैलाश मन्दिरसे बढ़कर उसकी कलात्मक अभिव्यक्ति और हो ही नहीं सकती। इसकी नकलमें इलोराके कैलाशमन्दिरका अनुकरण करके सागरमध्यवर्ती घारापुरी द्वीपमें (जिसे आजकल एलीफेन्टा कहते हैं) दुर्ग

हीगेल कहता है• कि मनुष्यकी क्रियाकी सृष्टि ही कला है। परन्तु हीगेलकी यह परिभाषा भी ठीक नहीं; क्योंकि मनुष्यकी सब क्रियाओंकी सृष्टि कला नहीं कही जा सकती।

जिस प्रकार संसार-भरके तथा प्रत्येक भाषाओंके विद्वानोंने साहित्यकी भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ दी हैं, उसी प्रकार लोगोंने कला की भी परिभाषा दी है, और कलाके सम्बन्धमें अनेक ग्रंथ लिखे गए हैं। इन सब परिभाषाओंमें कलाकी निम्न-लिखित व्याख्या अधिक अच्छी तथा न्याय-संगत मालूम पड़ती है—"सरस-अनुभव (Aesthetic experience) का व्यक्त करना ही कला है।" ध्यान देकर देखनेसे पता चलेगा कि ऊपरकी कलाकी लगभग सब परिभाषाएँ इस परिभाषासे निकाली जा सकी हैं, अथवा इसमें सम्मिलित हैं। यह परिभाषा उक्त अधिक परिभाषाओंसे अधिक व्यापक और हीगेल की परिभाषासे कम व्यापक है। इसके अतिरिक्त इसमें एक और विशेषता है, जो अन्य परिभाषाओंमें नहीं है। इस परिभाषामें सरस और अनुभव, दोनों शब्दोंका प्रयोग हुआ है, और दोनों ही कलाके लिये अत्यन्त ही अधिक आवश्यक हैं। इस परिभाषासे यह भी स्पष्ट है कि कलाके समझनेके लिये सौंदर्य-शास्त्र ([illegible]) को भी समझना चाहिए। इन दोनोंमें इतना घनिष्ट सम्बन्ध है कि बहुत लोग कला और सौन्दर्य-शास्त्रको एक ही समझते हैं परन्तु वास्तवमें ऐसी बात नहीं है। इसमें लेश-मात्र भी सन्देह नहीं कि सौन्दर्य शास्त्र और कलामें कुछ सम्बन्ध

• [illegible]

कला, काव्य और सौंदर्य्य

प्रसिद्ध फ्रेंच कवि विक्टर ह्यूगो ने एक बार काव्य की बन्धन-हीन शक्ति का वर्णन करते हुए कहा कि—

"Besides every thing is subject, every thing is dependent on art, every thing has the franchise in poetry Ask nothing then, about the motive for taking the Subject-grave or gay, horrible or graceful, brilliant or sombre strange or simple-rather than any other...... Art has nothing to do with leading trings, with handcuffs with gags, it says "Go your ways and sets you loose in the great garden of poetry where there is no forbidden fruit, space and time are the domains of art

अर्थात् "कोई भी वस्तु काव्य का विषय हो सकती है। प्रत्येक वस्तु कला पर निर्भर है और कला में प्रत्येक का स्थान है। यह न पूछना चाहिए कि किस कारण से कोई विशेष विषय लिया गया—वह गम्भीर हो अथवा चटपटी, लावण्यमय हो अथवा भयानक, मनोहारी हो अथवा सीधा, अद्भुत हो अथवा साधारण ...। कला को नकेल, हथकड़ी अथवा मुख बन्धन से क्या सरोकार? वह

कला, काव्य और सौंदर्य्य

प्रसिद्ध फ्रेंच कवि विक्टर ह्यूगो ने एक बार काव्य की स्वतन्त्रहीन शक्ति का वर्णन करते हुए कहा कि—

"Besides every thing is subject, every thing is dependent on art, every thing has the franchise in poetry Ask nothing then, about the motive for taking the Subject-grave or gay, horrible or graceful, brilliant or sombre strange or simple-rather than any other...... Art has nothing to do with leading trings, with handcuffs, with gags, it says "Go your ways", and lets you loose in the great garden of poetry where there is no forbidden fruit, space and time are the domains of art

अर्थात् 'कोई भी वस्तु काव्य का विषय हो सकती है। प्रत्येक वस्तु कला पर निर्भर है और कला में प्रत्येक का स्थान है। यह न पूछना चाहिए कि किस कारण से कोई विशेष विषय छाँटा गया—वह गम्भीर हो अथवा चटपटी लावण्यमय हो अथवा भयानक, मनोहारी हो अथवा तीखा अद्भुत हो अथवा साधारण ...। कला को नकेल, हथकड़ी अथवा मुख बन्धन से क्या प्रयोजन' वह

ही नहीं, कल्पनाकी मसिसे लिखे जाने पर भी काव्यके प्रत्येक शब्द और अक्षर वास्तविक संसारके प्रतिबिम्ब ही हैं। यदि कवि कालिदास भ्रमरको डाली-डाली घूमकर मधुपान करते देखकर प्रसन्न न होते तो रानी हंसपदिकासे दुष्यन्तके प्रति उलाहना रूपमें यह कदापि न कहलाते कि—

अभिनवमधुलोलुपस्त्व तथा परिचुम्ब्यं चूत मञ्जरी।
कमलवसतिमात्रनिर्वृतो मधुकर विस्मृतोऽसि एनां कथं॥

कितना मार्मिक भाव प्रदर्शन है! पाठक पढ़कर आनन्दसे नाच उठते हैं! यह कहना नितान्त भ्रम मूलक है कि उपर्युक्त कविने बिना सोचे-समझे केवल भावावेशमें आकर यह कह दिया है। स्वयम् इंग्लैण्डके कालिदास शेक्सपियर जिनकी प्रशंसामें डॉ० ब्राडलेने सहस्रों पंक्तियों लिखी हैं यदि यह समझकर कि प्रेम समयका चाकर नहीं है, आनन्दोल्लासमें न बह उठते अथवा पाठकोंको आनन्दित करनेकी इच्छा न रखते तो वह कभी भी न लिखते कि—

Love is not tune's fool.
Though rosy lips and cheeks
Within his [illegible] compass come

अर्थात्—"प्रेमको समय भुलावा नहीं दे सकता। यद्यपि गुलाबी होंठ व गालों पर उसके हँसियाका प्रहार होता है।" अथवा उर्दू काव्यकी प्रसिद्ध पंक्तियां कि—

[illegible]
[illegible]

के दिनोंमें यदि नदीके जल पर ओस बिन्दुओंको गिरते कोई देखे तो बहुधा उसे ऐसा प्रतीत होगा कि नदीका जल लहरोंके रूप-में उठ उठ कर उन्हीं ओस विन्दुओंसे मिलनेको आतुर है और उन्हींसे मिलकर आकाश और पृथ्वी एक कर रहा है। कवि इकबालके शब्दोंमें—

> हो दिल फ़रेब ऐसा कोहसार का नजारा।
> पानी भी मौज बनकर उठ उठ के देखता हो॥

प्रकृतिका यह दृश्य प्रत्येक सहृदयको विमोहित कर देता है। निस्सन्देह आनन्दके अतिरिक्त इस दृश्यसे मनुष्यको और कोई लाभ नहीं फिर भी वह इसे इक टक देखता रहता है और अपनी हृदयगति इसीके भरोसे छोड़ देता है। इसी प्रकार वसन्तका आगमन है। कवि देव इस वसन्त-बालक का सौन्दर्य्य वर्णन करते हुए कहते हैं कि—

> डार द्रुम पलना बिछौना नव पल्लव के
> सुमन झिंगूला सोहै तन छबि भारी दै।
> पवन झुलावै केकी कीर बतरावैं "देव"
> कोकिल हलावै हुलसावै कर तारी दै॥
> पूरित पराग सों उतारो करै राई नोन
> कंजकली नायिका लतान सिर सारी दै।
> मदन महीप जू को बालक बसन्त ताहि
> प्रातहि जगावत गुलाब चटकारी दै॥

उपर्युक्त कथा केवल कवि-कल्पनाकी उपज नहीं

की सम्पत्ति मदानकी हो। हाँ, उनको देखकर जो कुछ मिला वह आनन्दही आनन्द था। इसी प्रकार जिस किसीने खुली चाँदनी में आगरेका ताज देखा है वह निःसंकोच कह सकता है कि उसके समीप पहुँचतेही हृदय स्वयम् नाच उठता है और रह रहकर यही इच्छा होती है कि सारा जीवन उन्हीं मौलसिरीके वृक्षोंके नीचे खड़े रहकर काट दें। साधारणतः यही गुण प्रत्येक सुन्दर वस्तुमें होता है, और इसी लिए केन्टकी परिभाषा हर प्रकारसे मान्य है।

किन्तु इस परिभाषाको मान लेने पर भी कठिनाई हल नहीं होती। क्योंकि जिस आनन्दके आधार पर सौन्दर्य सम्बन्धी इस परिभाषाकी रचना हुई है वह स्वयम् इतना गूढ़ है कि दार्शनिकों में उसके ही न जाने कितने मत फैल रहे हैं। इसका कारण भी है। आनन्दका सम्बन्ध भिन्न भिन्न प्रकार से हो सकता है। कोई किसीके आकार पर रीझ जाता है, तो कोई उसकी आन्तरिक आत्मा पर और कोई दोनोंके सम्मिश्रण होने पर। इसीके परिणाममें ही [illegible] और [illegible] का जन्म हुआ है। [illegible] सौन्दर्य [illegible] ([illegible]) [illegible] सौन्दर्य के [illegible] हैं :—

[illegible]

यदि सौन्दर्य्याभास ही कविताका मुख्य गुण है तो तीन वस्तुओंको सहायता अनिवार्य्य है। प्रथमतः अनुभव वस्तु, दूसरा अनुभवी और तीसरे उस अनुभवसे शुद्ध मनोरञ्जन-ग्राही। इनमेंसे एककी भी अनुपस्थितिमें काव्य एक पग भी आगे नहीं बढ़ सकता। क्योंकि यदि वस्तु नहीं तो अनुभव किसका? यदि अनुभवी नहीं तो अनुभव करेगा कौन? और यदि अनुभवका विवेकी नहीं, तो अनुभव किसके लिए? यह तीनों बातें काव्यको वास्तविक संसारसे, उधार मांगनी पड़ेंगी। अतएव डॉ० ब्राडलेकी काव्य स्वतन्त्रता नामको ही रह जाती है। इसे सांसारिक मनुष्यों तथा वस्तुओंसे पग पग पर सहायता लेनी ही पड़ती है। उसका सौन्दर्य्य-पात्र संसार हीमें मिलेगा, उसका सौन्दर्य्य स्वादन संसार हीमें होगा। यदि कोई मेज बनानेको संसारसे काठ ले और संसार हीमें बेचे तो केवल बसूला चलानेही में स्वतन्त्र होगा। ठीक यही दशा कविताकी है। यह ठीक है कि कवि अपनी अद्भुत शक्ति द्वारा वस्तु विशेषका नवीन रूप कर देता है किन्तु मृत्तिका फिर भी इसी संसारकी रह जाती है। उदाहरणत यदि कवि कोई नव-यौवनाके विशाल नेत्रों पर रीझे तो उसको इतना कहा सकता है कि जिस वस्तु तथा जीव विशेषसे तुलना करे उन्हींको उन्हें देखने तथा आनन्द लेनेका मौका, माना वह उनसे हीन है जैसे कि गालिबने निम्नांकित शेरमें किया है —

[illegible]

[illegible]

पड़ता है। इसीको आन्तरिक सौन्दर्य्य अथवा मानसिक सौन्दर्य्य कहते हैं।

इसी प्रकार किसी मुसलमानके बैठकर तस्बीह फेरनेमें ईश्वर भक्तिके अतिरिक्त, सौन्दर्य्य नहीं दीख पड़ता। किन्तु यदि यह पता चले कि हज़रत आदतन खुदा खुदा कर रहे हैं तबियत तो खुदाईमें लगी है और बेचारे औरोंको धोखा देते देते स्वयम् अपने को यह समझकर कि खुदाको भी ढोंगसे धोखा दे देंगे, धोखा दे बैठे, तो हृदय समवेदनाकी ओर दौड़ पड़ता है। उसी समवेदना-से चित्त आनन्दित हो उठता है। इसी सौन्दर्य्य का धार्मिक चित्रण "चकबस्त" ने यों किया है कि—

जनाबे शेख को यह मरज़ है यादे इलाही की।
खबर होती नहीं दिलको जुबां से याद करते हैं॥

कविकी चुटकी कि "खबर दिलको नहीं, जुबां से खुदा खुदा करते हैं" में ही सारा रस भरा हुआ है। यही विचार उस चित्रका आन्तरिक सौन्दर्य्य है। बिना इसके सब कुछ सुन्दर होने पर भी वह नायिका जिसका कि कथन हो कि—

पहिर देख सखि इक दखिनि चीर, पिया के देखत मोर जरत शरीर।

वास्तविक सौन्दर्य्यसे कहींभी दूर है। इससे तो 'बिहारी' की नायिका ही सुन्दर है जो कि स्वपतिको

बहु धन लै अहसान कै, पारो देत सराहि।

देखकर,

(बैद बधू) हँसि भेदसौं, रही नाह मुख चाहि।

किन्तु फिर भी मृग तथा नेत्रसे सांसारिकता ही टपकती है।
वास्तवमें जिस वस्तुको कविने न देखा हो और न सुना हो,
ध्यान तथा प्रदर्शन उसके लिए असम्भव है। यदि कवि
कल्पनाके ही ईंट-गारेसे प्रासाद बनानेका प्रयत्न करे तो
प्रासाद केवल कल्पना हीमें दिखलायी पड़ेगा। यह सम्भव है
कल्पनाकी तरंगमें कभी-कभी उसके पांव उखड़ जांय और
उसी धारामें वह चले किन्तु यदि उसको डूबना नहीं है तो
अवश्यमेव सम्भलकर समुद्र तट पर आना ही पड़ेगा।
कवियोंमें अंग्रेजीके प्रधान कवि शैली अद्वितीय हैं। उनका
था कि कवि—

Nor seeks nor finds he mortal blisses
But feeds on the aereal kisses
Of shapes that haunt thoughts, wildernes"

अर्थात्—" कवि इहलौकिक आनन्दका न तो आतुर है
और न उसे प्राप्त ही करता है। वह तो विचार-उद्यानमें
वाली मूर्तियोंका स्वप्नवत् चुम्बन करता है और उसीसे जीता है।
किन्तु प्रेमके लिए तथा पेट भरनेके लिए उसे भी संसारकी
टपकता पड़ता है। चाहे खाद्यपदार्थ स्वाप्निल चुम्बन ही क्यों
हों। इसी प्रकार—

भूषण-भार सम्हारि है क्यों यह तन सुकुमार।
सूधे पाइ न धर परे सोभा ही के भार॥

में 'सोभा' स्थूल वस्तु न होने पर भी कविने उसे बोझवाली

दिया है! किन्तु सुयौवना तथा सौन्दर्य संसारही की है। अतएव काव्य-संसारका केवल इस संसारसे ही सरोकर नहीं है, वरन् वह अपने जीवनके लिये उसका आभारी भी है।

काव्य-संसारको स्वतन्त्रता यदि सचमुच नहीं मिली तब तो यह कहना कि उसके आचार-विचार सर्वतः भिन्न हैं केवल शब्दाडम्बर है। क्योंकि यदि वस्तुको उधार लेना और उसे व्याज सहित लौटाना आवश्यक है, तब ऋण देनेवालेका नियमोल्लंघन क्षम्य न होगा। यह निश्चित् है कि कलई करने पर भी वस्तुका वस्तुत्व संसारही का है। उसका उपयोग काव्य-संसारमें नहीं वास्तविक संसारही में होगा। इस संसारका अटल नियम है—सत्यसे विमुख न होना। वर्डस्वर्थके शब्दोंमें—"कविताका ध्येय सत्य ही है—व्यक्तिगत अथवा स्थानिक भले ही न हो, किन्तु व्यवहारिक तथा सार्वदेशिक तो [illegible] ही।" अतएव काव्यको सत्य रूढ होना अनिवार्य है। किन्तु सत्यका क्षेत्र असीमित है। संसारके समस्त आचार विचार, धर्म तथा सौन्दर्य केवल इसीके परिपोषक हैं। वस्तुको सत्य अथवा सुन्दर केवल इसी आधार पर कहा जा सकता है कि उसमें सत्यकी अवहेलना नहीं की गयी है। [illegible] अपनी [illegible] आवश्यकता [illegible] पुस्तकमें लिखा है— [illegible] [illegible] है, [illegible] [illegible] [illegible] ही है—सत्य ही सुन्दर है सुन्दरता शुभ है और सत्य शुभ तथा सुन्दर है। [illegible]

एक ही वस्तु हैं, क्योंकि तीनों एक ही परमात्माके तीनों रूप हैं।" यदि सत्य, शुभ तथा सुन्दर एक हीके तीन स्वरूप हैं तो किसी वस्तुके सौन्दर्य विवेचनमें यह देखना आवश्यक है कि उसमें सत्यकी झलक है या नहीं—शुभ है या नहीं। इसी गोलाकारके अन्तर्गत संसारके आचार-विचारादि, सभी वस्तुएँ आजाती हैं। काव्य सौन्दर्यका आश्रित है और सौन्दर्य सत्यका। इसलिए काव्य आचार और नीतिका उतना ही पोषक है जितना मनुष्यके अन्य व्यवहारिक कर्म हो सकते हैं। इस विचारको सम्मुख रखकर 'बिहारीके' निम्नांकित दोहेकी विवेचना करनी चाहिए—

गोप अथाइन तैं उठे गोरज छाई गैल।
चल बलि अलि अभिसारकी भली सम्मोखैं सैल॥

यदि बाह्य सुन्दरता ही काव्यका लक्ष्य है तब तो भाषाकी काट-छांट, तथा छंद-गठनमें यह दोहा अद्वितीय है। किन्तु, यदि आंतरिक सौन्दर्य पर दृष्टि डाली जाय—सत्य तथा सौन्दर्यकी खोजकी जाय तो पता चलेगा कि भाव हेय तथा मिथ्या है, ऐसी दशामें यह दोहा 'रसराज' रसका होने तथा "अनुभाव, विभावका पूर्ण प्रकाश" पाने पर भी कविता कहलाने योग्य नहीं।

वास्तवमें 'कला केवल कलाके लिये' की पुकार समयानुसार हुई थी। इग्लैण्डमें शैली, कीट्स तथा बायरनके काव्य केवल यह कहकर ठुकरा दिये गये थे कि उनके रचयिता दुराचारी थे। समालोचकगण कविता पर दृष्टि न डालकर कविके जीवन हीको अधिक देखते थे। कीट्स तो फैनी ब्राउन पर प्राण निछावर कर

तथा सत्य है वह अवश्य रुचिकर है।' अस्तु, इससे यह सिद्ध होता है कि सत्य तथा सदाचार आदर्श सौन्दर्य्यके आवश्यक अङ्ग हैं। हाँ किसी कलावस्तुके विवेचनमें इन बाह्य वस्तुओं पर जानकारी में ध्यान नहीं आता. किन्तु जिस मस्तिष्क द्वारा इसकी परीक्षा होती है वह अनजानमें इन्हीं विचारोंसे रंगा पडा है। इसका संकेत क्लटन ब्राकने स्वयम् भी किया है। उन्हीं ओजस्वी शब्दोंमें:—

' During it (seeing a piece of art) we look neither before or after: only now exists for us, freed from all that has been or will be...... If we are to live utterly in the r ow, that now must be full not empty: it mnst convince us of its realit \, just a- heaven if it were to be heaven would need to convince of its reality '

अर्थात्—"किसी कला पदार्थके देखनेमें हम आगे पीछे नहीं देखते; केवल वर्तमान ही उपस्थित रहता है जिससे कि भूत तथा भविष्यसे कोई नाता नहीं। [illegible] यदि हमें केवल वर्तमानमें रहना है तो वह वर्तमान परिपूर्ण हो शून्य नहीं उसको अपनी सच्चाईका इसी प्रकार विश्वास दिलाना पड़ेगा जिस प्रकार स्वर्गको दिखाना पड़ता है कि वह वास्तवमें स्वर्ग है [illegible] अतएव सच्चा प्रेम काव्य के लिए अनुकरणीय है। भाव यदि सत्य है भाव प्रदर्शन यदि सत्य है तो कला पदार्थ भी सत्य होगा [illegible] यदि [illegible] मनुष्य [illegible] भावोंसे प्रभावान्वित होते हैं—एक [illegible] [illegible] नैसर्गिक [illegible]

छोटी है गोरटी या चोरटी अहीर की ॥

केवल इसीका उदाहरण है कि प्रकृति सौन्दर्य्य ही वास्तविक है। इसीलिए तो—

चमन में गुल ने जो कल दावे जमाल किया।
जमाले यार ने मुँह उसका खूब लाल किया ॥

कह कर कविने कपोलोंकी लालीकी सराहना की है। अस्तु। सारांशतः यह कहना अनुचित न होगा कि सौन्दर्य्य सबको प्रिय होते हुए भी सब स्थानमें रहते हुए भी प्रकृति पर ही लट्टू है इसीके रूपको निरखकर भौंरेकी नाईं उसीमें प्रतिक्षण रहने को प्रस्तुत है। सौन्दर्य्य और काव्यका क्या संबन्ध है यह फिर कभी लेखक बताने की धृष्टता करेगा।

पिय राख्यो परदेश तें, करि अद्भुत दरसाव ।
कनक-कलश पानिप भरे, कछुक उरोज दिखाव ॥

— मतिराम

प्रीतमको अपने उरोज दिखा दिये और वह काम वशीभूत हो परदेश नहीं गया। यह नायिका ईवन मार्गनकी मिस ओनीलसे कम नहीं, जिसने अपने सभी कपड़े उतार डाले थे। ऐसे भाव उत्तम नहीं हो सकते— केवल कामुकताकी दुर्गन्ध आती है, यहाँ रस परिपाक कहाँ, और कला लालित्य कहाँ? "बिहारी" की एक नायिका है—

देवर फूल हने जु हठि, उठे हरषि अंग फूलि ।
हँसी करति औषधि सखिनु, देह ददोरन भूलि ॥

देवरने भाभीको फूलसे मार दिया। जिस प्रसन्नतासे शरीर रोमाञ्चित हो फूल उठा। सखियां समझीं कि इससे ददोरे पड़ गये हैं। वे दवा करने लगीं। इसी पर भाभी हँस पड़ी। इससे तो भाभी तथा देवरके दूषित सम्बन्ध स्पष्ट हैं। अतएव ऐसे भाव शब्दोंके दूधसे चाहे जितने धोये जांय सुन्दर नहीं। यह कहना कि कवि इनका प्रदर्शन कर सकता है क्योंकि वह स्वतन्त्र है, केवल भ्रम है। इससे न तो शुद्ध मनका कवि ही आनन्दित हो सकता है और न पाठक। [illegible] एक [illegible] ऐसे भाव संसारके [illegible] है। [illegible] नहीं है [illegible]

तब उनमें स्वभावतः दैवी प्रतिभाकी न्यूनता हो जाती है। यही दैवी और मानवीय काव्य तथा कलामें अन्तर है। किन्तु दोनोंका उद्गमस्थल समान होने के कारण दोनोंमें समानता मिलती है। इसी समानता की स्पष्ट विवेचना इस लेखका लक्ष्य भी है।

यों तो काव्य और चित्रणकलाके समन्वयके सम्बन्धमें बहुत से विद्वानोंने अपनी सम्मतियां प्रकट की हैं, किन्तु होरेस (Horace) ने सबसे पहले बतलाया कि कवि और चित्रकार, दोनोंको ही अपने अपने क्षेत्रमें समान स्वतन्त्रता (Licence) प्राप्त है। • इसी भावका लार्ड बायरन द्वारा किया हुआ अँगरेजी-रूपान्तर लेखके प्रारम्भमें दिया गया है। पुनः आगे चलकर समय और स्थान भेदसे, अनन्त अवस्थाओंमें काव्य और चित्रके निरन्तर परिणामका सकेत कर यही विद्वान् कहता है—कविता चित्रकलाके समान है। पर चित्र स्थान सम्बन्धके कारण अधिक [illegible] दृष्टिगोचर होता है और [illegible] है, [illegible] दूसरे ही [illegible] है [illegible]

स्वच्छ कणोंके समान चमकता रहता है। कवि कोलेरिजने स्वयम् कहा है—'कलाकार केवल प्रकृतिका अनुकरण करे तो यह उसका व्यर्थ प्रयत्न है। यदि किसी दिये हुए शरीर को जिसमें सौन्दर्य्याभासकी सम्भावना हो चित्रित करे तो उस चित्रमें भावका भूठापन, अकृत्रिमता तथा शून्यता प्रकट हो जायगी। आपको प्रकृतिके तत्व पर हाथ अवश्य लगाना होगा परन्तु तत्व पर जो विराट्रूपमें आत्मा तथा प्रकृति को सम्बद्ध करता है।" अस्तु केवल अनुभव-प्रदर्शनको काव्य कहना सरासर भूल है।

इसका तात्पर्य यह नहीं कि बुरे अनुभव तथा अनाचारी भाव दिखला ही नहीं सकता। ऐसा करनेसे काव्यका क्षेत्र बहुत संकुचित हो जायगा और यह होना असम्भव भी है। कवि किसी भी वस्तु को काव्य-संसारसे सदोष होनेके कारण पृथक नहीं कर सकता। ऐसा होने पर वाल्मीकिकी 'रामायण', होमरका 'ईलियड' मिल्टन का 'पैराडाइज लास्ट' आदि सभी महाकाव्य साहित्यसे निकालकर फेंक देने पड़ेंगे। क्योंकि जहाँ रामका चरित्र है वहाँ रावणका भी है, इसी प्रकार अन्य महाकाव्योंमें सेटन (Satan) आदि दुष्टोंका जीवनचरित्र है। रस्किनके शब्दोंमें "मनुष्योंके इन गीत महान पुरुषोंके आदर्शको लिए हुए सुख तथा दुःखके प्रदर्शन हैं।" सचमुच संसार में सत्य तथा असत्य में धर्म तथा अधर्म में देव तथा दानवों में सदासे संग्राम होता आया है। ठीक इस प्रकार हर मनुष्यके हृदय-संसारमें प्रति क्षण होता रहता है। यदि कविता वास्तवमें जीवनका प्रतिबिम्ब है तो [illegible]

मैं अपेलीज (Appelles) को छोड़कर मेरी प्रतिमा अथवा चित्र बनानेका किसी अन्यको अधिकार नहीं है। लब्धप्रतिष्ठ यूनानी शिल्पकार फिडियासने वीरों और देवताओंकी ऐसी मनोज्ञ प्रतिमाओंका निर्माण किया, जिन्हें देखकर लोग आश्चर्यमें पड़जाते थे। इसका एक-मात्र कारण यह था कि वह अपने मस्तिष्कमें छिपे हुए पूर्ण एवं आदर्श चित्रके अनुरूप प्रतिमाओंका निर्माण करता था, न कि प्रकृतिकी नकल। एक लेखकने यह सत्यही कहा है कि कवि, चित्रकार और शिल्पकार, तीनोंही के लिए अबाध रूपसे प्रकृतिकी अपेक्षा Life. का अनुसरण करना श्रेयस्कर है।

परिभाषाकी हैं। मिल्टन, वर्ड्सवर्थ, शेली, जान्सन, कालरिज आदि सभी अँगरेज़ विद्वानोंने निराले ढंगसे काव्यादर्शका विवेचन किया है। और यह बात है भी ठीक। कवि अन्य कलाविदोंकी अपेक्षा अधिक निरंकुश और उच्छृङ्खल होते हैं। वे किसी नियम-विशेषसे आबद्ध नहीं रहना चाहते। उनकी प्रतिभा परंपराबद्ध नियमोंके विरुद्ध क्रांति करना और नवीन मार्गका अवलंबन करना चाहती है।

चित्र-कलामें भी काव्यकी भाँति अन्यान्य स्कूल हैं। इस बात-का उदाहरण, ऊपर उद्धृत किए हुए बहुतसे चित्रकारोंके विचारोंमें मिल जायगा। यूनान, इटली, हालैंड, और फ्रांस आदि देशोंके चित्रकारोंमें भी विचार-विभिन्नता रही है। आजकल इङ्गलैण्डमें भी नवीन चित्रणकलाका आविष्करण हुआ है। भारतमें ही Fresco paintings से लेकर आजतक चित्रणकलाके न-जाने कितने 'स्कूल्स' का उदय हुआ। बौद्धकालीन चित्र-कला तो बहुत दूरकी बात है। मध्यकालीन भारतीय चित्र-कलामें बहुतसे स्कूल, जो 'क़लम' के नामसे प्रसिद्ध हैं, देखनेमें आते। उदाहरणार्थ—देहली क़लम, लखनऊ क़लम, जयपुर क़लम इत्यादि।

तारानाथ (७वीं शताब्दी) नामक एक तिब्बतदेशीय विद्वानने बौद्धकालीन कलाका वृत्तांत लिखते हुए उसे तीन भागोंमें विभक्त किया है।

(१) देव-पद्धति (Style)—इस पद्धतिके अनुसार मगध-देशमें ईसाके पूर्व छठेसे तीसरी शताब्दी तक [illegible]

दर्शनमें लगे रहते हैं, क्योंकि उच्च भावोंकी ओर अपनी दुर्बलताके कारण उनका ध्यान ही नहीं जाता। इस पर यह कहा जा सकता है कि बड़े-से-बड़े कविने इस रसमें कविता की है। किन्तु इसका भी उत्तर है। संसारमें बहुतसे महान पुरुषोंने चोरीभी की है, किन्तु क्या चोरी अनुकरणीय हो सकती है? संसारका इतना बड़ा कलाकार 'आस्कर वाईल्ड' एक बड़े दुराचारके अभियोगमें जेल-यात्रा भुगतता रहा, तो क्या कलाकारके महान होनेमें दुराचारी होनाभी आवश्यक है? कवि भी मनुष्य है, इसी मनुष्यत्वके नाते वह भी भूलकर बैठता है, अतएव उस भूलको भूल जाना आवश्यक है। उसके अच्छे कार्य परही दृष्टि डालनी चाहिये। शेक्सपियरको ख्याति लियर और हैमलेटसे मिली, न कि वीनस एडानिससे, कालिदासको ख्याति शाकुन्तल ऐसे ग्रंथसे अद्वितीय रचनाके कारण मिली न कि विपरीत क्रियाओंके वर्णनसे। कवि कलाका दिग्गज है न कि काम-शास्त्रका

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्।

समूढमस्य पांसुरे।

किसीभी विज्ञान-संबंधी नियमकी पराकाष्टा यही है कि वह अतिशय सामान्य शब्दोंमें व्यक्त किया हो। वह जितना व्यापक होगा, उतनाही श्रेष्ट है और प्रकृतिके उतनेही अधिक रहस्योंकी कुंजी है। साथही वह जितना अधिक व्यापक होगा, उतनाही उसे सरलभी होना चाहिए (The more generalised a scientific law is, the simpler it is) विष्णुने तीन पैरमें त्रिलोकी को नाप लिया, इससे सरल और व्यापक नियमकी संभावना कहाँ है। प्रत्येक परमाणुके अंतःकरण पर और विराट् सौर मंडलके वक्ष पर यही नियम लिखा हुआ है—

विष्णुने तीन चरणोंमें तीन लोकोंको नाप लिया है, पिंड और ब्रह्मांड सभी आदि, अंत और मध्यवाले हैं, सभी को रज, सत और तम की अवस्थाओंमें से निकलना पड़ता है कोई भी सर्ग, स्थिति और प्रलयसे बचा नहीं है। इसलिये [illegible] हमारे विज्ञान हमें स्मरण दिलाते हैं—

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्।

अर्थात् हम जो नक्षत्र गिरे हुए देखते हैं [illegible] [illegible] आदि [illegible] [illegible] है यह [illegible] पर लिखा है कि विष्णुने अपना [illegible] है [illegible] हो [illegible] है। [illegible] तीन [illegible] [illegible] हुआ है। [illegible]

भारतीय कलामें त्रिविक्रम

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् ।

समूढमस्य पांसुरे ॥

वेदकी श्रुतिमें कहा गया है कि विष्णुने तीन पैर रखकर त्रिलोकी को नाप लिया। पृथ्वी, अंतरिक्ष और द्यौके तीन विभाग उसके चरणों के विस्तारमें सीमित होगए। यह मंत्र भारतीयोंके अनेक संस्कारों पर पढ़ा जाता है, जीवनके प्रत्येक अवसर पर त्रिविक्रम विष्णुके त्रेधा पाद-विहरणके वैज्ञानिक सिद्धान्तसे शिक्षा ग्रहणकी जा सकती है।

जितना ब्रह्मांड है सब विष्णुरूप है। ब्रह्मांडमें व्यापक होनेसे ही विष्णुकी संज्ञा हुई है। यह ब्रह्मांड त्रिगुणात्मक प्रकृतिकी रचना है। तीन गुणोंके वैषम्यसे ही सृष्टि होती है। सत्व-रज-तमके ही नामांतर ब्रह्मा, विष्णु, महेश हैं। इन्हीमें सृष्टिका आदि, मध्य और अंत समाया हुआ है।

उत्पत्ति-स्थिति-प्रलयके तीन चरणोंमें सारे भूत बँधे हुए हैं। ब्रह्मांडमें एक परमाणुभी ऐसा नहीं है, जो सर्ग-स्थिति लयके क्रमांक नियमसे नियन्त्रित न हो। जहाँ तक विष्णुरूप ब्रह्मांड है, वहाँ तक विराट्के चरणोंने सबको नाप रखा है। फिर क्या आश्चर्य जो ऋषियोंने समाधिमें इस तत्त्वका अनुभव किया हो कि सृष्टिमें त्रिक का ही प्राधान्य है। इसी वैज्ञानिक नियमको उन्होंने इस मंत्रमें कहा है—

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्।

समूढमस्य पांसुरे।

किसीभी विज्ञान-संबंधी नियमकी पराकाष्टा यही है कि वह अतिशय सामान्य शब्दोंमें व्यक्त किया हो। वह जितना व्यापक होगा, उतनाही श्रेष्ट है और प्रकृतिके उतनेही अधिक रहस्योंकी कुंजी है। साथही वह जितना अधिक व्यापक होगा, उतनाही उसे सरलभी होना चाहिए (The more generalised a scie' tific law is, the simpler it is) विष्णुने तीन पैरमें त्रिलोकी को नाप लिया, इससे सरल और व्यापक नियमकी संभावना नहीं है। प्रत्येक परमाणुके अंतःकरण पर और विराट् सौर मंडलके वक्ष पर यही नियम लिखा हुआ है—

विष्णुने तीन चरणोंमें तीन लोकोंको नाप लिया है, पिंड और ब्रह्मांड सभी आदि, अंत और मध्यवाले हैं, सभी को रज, सत्व और तम की अवस्थाओंमें से निकलना पड़ता है. कोई भी सर्ग, स्थिति और प्रलयके चक्रसे नहीं बचा है। इसलिये [illegible] [illegible] हमारे विज्ञान हमें स्मरण दिलाते हैं—

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्।

[illegible]

कटाक्षमें त्रिलोकी विस्तृत हो जाती है, ऋत्विक् लोग यही घोषित करते हैं—

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् ।

लेकिन अबको क्या हो रहा है ?

समूढमस्य पांसुरे—

विष्णुके मध्य चरणमें लोग समूढ़ हो जाते हैं । यह पांसुल प्रदेश है, इसमें अविवेकी जन विमूढ़ होकर आगे आनेवाले [illegible] चरणको नहीं देखते, जब चिताकी भस्मके विलेपन-समय, ऋत्विक् लोग फिर पुकारकर यहीं सुनायेंगे—

इदं विष्णुर्विचक्रमे.............

यह शरीर एक चिति ही है, इसकी अंतिम आहुति देनेके लिये जो समिधाओंका चयन किया जाता है, उसीका नाम चिता है। वह अमंगल करनेवाली है सही, परन्तु प्रत्येक प्राणीकी देहमें किसी न किसी दिन अवश्य उस अमंगलास्पद भस्मका अंगराग लगाया जायगा । जिसने 'इदं विष्णुर्विचक्रमे'के वैज्ञानिक तत्त्वको जान लिया है, वही कालिदासके स्वरमें स्वर मिलाकर कह सकेगा—

तदगधसर्गमवाप्य कल्पते ध्रुव चिता-भस्म-रजोविशुद्धये ।

अर्थात् विष्णुका जो तीसरा चरण है, वह रुद्र बनकर प्राणियोंको रुलाता है, परंतु विवेकी जन उसीमें शिव-तत्त्वके दर्शन करते हैं। विनाशमें भी कल्याणका मर्म छिपा है, चिता भी परम शुद्धिका हेतु है, यही प्राकृतिक विधान है । शिवने जिस भस्मको संस्पृष्ट कर दिया है, उसमें अमंगलका लेश भी नहीं है। जो इस रहस्यमें पारंगत

और काव्यके सदृश कला भी राष्ट्रीय संस्कृतिकी आत्माका एक विकसित रूप है। वह इस त्रिकसे कैसे बच सकती थी। वस्तुतः भारतीय संस्कृति समन्वय प्रधान (Synthesis loving) है। हमारे देशके अंतःकरणको वह वस्तु रुचतीही नहीं, जिसमें 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' का सम्मिलन न हो। इन तीनों गुणोंके परिपाकसे भारतीय कलामें विलक्षण शांति, आनंद और सौंदर्यकी स्थिति है। भविष्यके कलाकोविद इस विशेषताको ध्यानमें रक्खें, तभी वे राष्ट्रीय कलाके सच्चे प्रतिनिधि कहला सकेंगे।

इन तीन गुणोंको अच्छी तरह समझ लेना प्रत्येक कला-मर्मज्ञ के लिये भी आवश्यक है, क्योंकि बिना इनका ज्ञान हुए वह प्राचीन कलाका सहानुभूति पूर्ण अनुशीलन करनेसे वंचित रहेगा और साथही उन अनेक विशेषताओंको न समझ सकेगा, जिन्होंने गौण रूपसे समवेत होकर राष्ट्रके कलात्मक जीवनमें भाग लिया है।

सत्य=[illegible]—ब्रह्मा

शिव=[illegible]—शिव

सुन्दर=[illegible]—विष्णु

सत्य और सुन्दरसे उन सब द्वन्द्वोंका परिहार हो जाता है जिन्होंने वस्तु स्थितिवाद [illegible] और आदर्शवादके नामोंसे समस्त संसारके कलाविदोंको दो श्रेणियोंमें बांट दिया है। भारतवर्षमें इस प्रकारका द्वन्द्व कभी सुननेमें नहीं आया। सत्य और सुन्दर वस्तुके सम्मिलनसे ही मनका [illegible] पर्याप्त होता है परन्तु भारत वर्षकी आध्यात्मिक भूमिने कलाको [illegible] न होने दिया।